स्वामी विवेकानन्द

संक्षिप्त जीवनी तथा उपदेश



स्वामी अपूर्वानन्द

स्वामी विवेकानन्द :
संक्षिप्त जीवनी तथा उपदेश

स्वामी अपूर्वानन्द

(द्वादश संस्करण)



रामकृष्ण मठ
नागपुर

प्रकाशक :
स्वामी ब्रह्मस्थानन्द
अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ
रामकृष्ण आश्रम मार्ग
धन्तोली, नागपुर-४४० ०१२

अनुवादक :
स्वामी वागीश्वरानन्द
स्वामी विदेहात्मानन्द

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प १०३

[व ०१ : प्र २५०]

६.१.२००१

मूल्य : रु. १०.००

मुद्रक : गिरनार ग्राफिक्स,
नागपूर

दो शब्द

(प्रथम संस्करण)

यह नया प्रकाशन "स्वामी विवेकानन्द : संक्षिप्त जीवनी तथा उपदेश" पाठकों के समक्ष रखते हमें प्रसन्नता हो रही हैं।

स्वामी विवेकानन्द सत्यद्रष्टा ऋषि थे। वे युगावतार भगवान् श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग लीलासहचर एवं उनके युगधर्म-संस्थापन-कार्य में प्रमुख सहायक थे। उन्होंने सनातन वैदिक धर्म को पुनरुज्जीवित किया तथा समस्त विश्व में उसका प्रसार करते हुए सर्वत्र चैतन्य भर दिया। आध्यात्मिक आलोक से परिपूर्ण उनका लोकोत्तर जीवन अत्यन्त स्फूर्तिदायी है। उनके तेजस्वी विचारों में हमारे देशवासियों में संजीवन का संचार करने की सामर्थ्य निहित है। आज हमारे राष्ट्रीय जीवन की ऐसी कोई समस्या नहीं, जिसका हल हमें उनकी शिक्षाओं में न मिल जाता हो। स्वामीजी के प्रेरणादायी जीवन एवं विचारों का जितना प्रचार-प्रसार होगा, उतना ही हमारे राष्ट्र का कल्याण होगा। इसी उद्देश्य से उनकी यह संक्षिप्त जीवनी प्रकाशित की जा रही हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम आठ अध्यायों का अनुवाद स्वामी वागीश्वरानन्द ने तथा अवशिष्ट अंश का स्वामी विदेहात्मानन्द ने किया है। 'उपदेश' हमारे मठ से प्रकाशित स्वामी विवेकानन्दकृत विभिन्न पुस्तकों से संकलित हैं।

हमें विश्वास है कि यह पुस्तक पाठकों के जीवन को प्रकाशमान करने में सहायक सिद्ध होगी।

— प्रकाशक

नागपुर
१० फरवरी १९८५
राष्ट्रीय युवा वर्ष

सूची

स्वामी विवेकानन्द : संक्षिप्त जीवनी तथा उपदेश

१. आविर्भाव

किसी विशाल वटवृक्ष के नीचे खड़े होकर जब हम विस्मय-विमुग्ध हो उसके विस्तृत आयतन की ओर देखते हैं; तब क्या हम सोच भी पाते हैं कि यह विराट् वृक्ष कभी एक सरसों के दाने जैसे छोटे-से बीज के भीतर छिपा हुआ था? उसी प्रकार १२ जनवरी, १८६३ ईसवी, पौष कृष्ण सप्तमी तिथि के दिन कलकत्ते के सिमला मुहल्ले में विश्वनाथ दत्त और भुवनेश्वरी देवी के प्रथम पुत्र के रूप में जो शिशु जन्मा, उसे देखकर उस समय कौन सोच पाया होगा कि भविष्य में उसके मात्र उनतालीस वर्ष के जीवनकाल में एक ऐसी आश्चर्यजनक प्रतिभा का — ऐसी महान शक्ति का — विकास होगा, जिसका प्रभाव देश-काल की मर्यादा के भीतर सीमाबद्ध नहीं रहेगा; जो सर्वदा भिन्न भिन्न समय के, भिन्न भिन्न परिस्थितियों में पले, भिन्न भिन्न नर-नारियों के प्राणों में मानवात्मा की शाश्वत महिमा, सत्य-न्याय-मैत्री की सजीव प्रेरणा एवं निर्भय हो लोककल्याण करने की स्फूर्ति जगाती रहेगी ! यह कमनीयकान्ति देवशिशु जब धीरे धीरे एक प्रियदर्शन परन्तु तेजस्वी, प्रतिभाशाली, शौर्य-वीर्य-पराक्रम से पूर्ण नरशार्दूल-सदृश नवयुवक में परिणत हुआ, तब भी कोई सोच नहीं सका था कि यह नरेन्द्रनाथ दत्त विश्ववरेण्य 'स्वामी विवेकानन्द' बनेगा।

किन्तु अठारह वर्ष के युवक नरेन्द्रनाथ को पहली बार देखते ही श्रीरामकृष्णदेव उसे पहचान गये थे। उन्होंने जान लिया था कि नरेन्द्र कौन है एवं किसलिए जन्मा है। उसी क्षण उनके योगदृष्टिसम्पन्न चक्षुओं के समक्ष नरेन्द्र के भावी जीवन का चित्रपट उज्ज्वल आलोक की भाँति प्रकाशमान हो उठा था।

नरेन्द्रनाथ के दक्षिणेश्वर-आगमन के पहले ही श्रीरामकृष्णदेव को एक

अलौकिक दर्शन हुआ था। उसी से वे नरेन्द्रनाथ के स्वरूप के सम्बन्ध में अवगत हो सके थे। इस विषय में उन्होंने कहा था – "एक दिन देखा कि मन समाधिपथ से ज्योतिर्मय मार्ग पर ऊपर की ओर उठता जा रहा है। चन्द्र-सूर्य-तारकामण्डित स्थूल जगत् का सहज अतिक्रमण करते हुए मन सर्वप्रथम सूक्ष्म भावजगत् में प्रविष्ट हुआ। . . . मार्ग के दोनों ओर नाना प्रकार के देव-देवियों की भावघन मूर्तियाँ अवस्थित दिखाई दीं। यथाक्रम मन उस राज्य की चरम सीमा पर जा पहुँचा। वहाँ देखा – एक ज्योतिर्मय प्राचीर ने खण्ड और अखण्ड के राज्यों को पृथक् कर रखा है। . . . दूसरे ही क्षण दिखाई दिया – दिव्य ज्योतिर्घन-देहधारी सात प्राचीन ऋषि वहाँ समाधिमग्न हुए बैठे हैं। मैं समझ गया कि ज्ञान एवं पुण्य, त्याग एवं प्रेम में ये ऋषिगण, मानव तो क्या देव-देवियों तक का अतिक्रमण कर गये है। मैं विस्मित होकर उनके माहात्म्य के सम्बन्ध में विचार कर ही रहा था, इतने में देखा कि सम्मुख अवस्थित अखण्ड के राज्य के भेदरहित समरस ज्योतिर्मण्डल का एक अंश घनीभूत होता हुआ एक दिव्य शिशु के रूप में परिणत हुआ। उस देवशिशु ने उनमें से एक ऋषि के निकट आकर अपनी सुकुमार भुजाएँ उनके गले में डाल दीं; और अपने वीणाविनिन्दित अमृतमय स्वर से प्रेमपूर्वक पुकारते हुए उन्हें समाधि से जगाने की अथक चेष्टा करने लगा। उसके कोमल प्रेमपूर्ण स्पर्श से ऋषि समाधि से व्युत्थित हुए एवं अर्धोन्मीलित निष्पलक नेत्रों से उस अपूर्व बालक की ओर देखने लगे। ऋषि के मुखमण्डल का प्रसन्नोज्ज्वल भाव देखकर ऐसा प्रतीत हुआ कि वह बालक दीर्घकाल से उनका परिचित है – उनका हृदयधन है। फिर उस अद्‌भुत देवशिशु ने अत्यन्त आनन्द प्रकट करते हुए उनसे कहा, 'मैं जा रहा हूँ, तुम्हें भी मेरे साथ चलना होगा।' उसके इस अनुरोध के उत्तर में ऋषि के कुछ न कहने पर भी उनके नेत्रों के प्रेमपूर्ण भाव ने उनके अन्तर की सम्मति व्यक्त कर दी। कुछ देर तक इस प्रकार सप्रेम दृष्टि से बालक की ओर देखते हुए वे पुनः समाधिमग्न हो गये। फिर मैंने विस्मित होकर देखा कि उनके शरीर-मन का एक अंश उज्ज्वल ज्योति के रूप में परिणत होकर विलोममार्ग से धराधाम में अवतरण करने लगा। नरेन्द्र को

देखते ही मैं समझ गया कि यह वही ऋषि है।''

यहाँ पर यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि सप्तर्षिमण्डल के उन ऋषि के गले में अपनी भुजाएँ डालकर उनसे अपने लीलासहचर के रूप में नर-देह धारण कर धराधाम में अवतरण करने का अनुरोध करनेवाला देवशिशु स्वयं श्रीरामकृष्ण ही थे।

नरेन्द्रनाथ के विषय में श्रीरामकृष्णदेव ने और भी कहा था – "नरेन्द्र मानो सहस्रदल कमल हैं। इतने सारे लोग यहाँ आते हैं; किन्तु नरेन्द्र जैसा दूसरा कोई भी नहीं आया।''

कण्ठरोग से पीड़ित हो श्रीरामकृष्णदेव उस समय काशीपुर के उद्यानगृह में निवास कर रहे थे। अपने जीवकल्याणरूपी कार्य को समाप्त करने के बाद अब वे महाप्रस्थान के लिए प्रस्तुत हो रहे थे। परन्तु इस कठिन व्याधि में भी उन्हें विश्राम कहाँ ? इस समय वे विशेषकर त्यागी शिष्यों को साधन-भजन, त्याग-तपस्यादि के माध्यम से युगधर्मचक्र के परिचालन के लिए तैयार कर रहे थे। नरेन्द्रनाथ को उन्होंने इस समय विशेष रूप से प्रशिक्षित किया था। एक दिन उन्होंने नरेन्द्र को निर्विकल्प समाधि का अनुभव प्रदान किया और जगज्जननी का कार्य करने की प्रेरणा दी।

तभी तो आगे चलकर नरेन्द्रनाथ ने स्वामी विवेकानन्द के रूप में परिणत हो योगारूढ़ रहते हुए समस्त विश्व में इतना महान् कार्य सम्पन्न किया। भगीरथ जिस प्रकार सुरसरि गंगा को मर्त्यलोक ले आये थे, उसी प्रकार श्रीरामकृष्ण संसार के परित्राण के लिए सप्तर्षिमण्डल के इन ऋषि को समाधिभूमि से उतार लाये थे। समस्त संसार, और विशेषकर भारत, विवेकानन्द के लिए श्रीरामकृष्ण के प्रति चिरऋणी रहेगा।

स्वामी विवेकानन्द श्रीरामकृष्ण की वाणी के मूर्तरूप थे। उन्हीं के माध्यम से श्रीरामकृष्ण ने समस्त मानवजाति के कल्याणार्थ अपने युगधर्म का सम्यक् रूप से स्थापन एवं प्रचार किया।

□□□

२. बाल्यजीवन तथा शिक्षा

नरेन्द्रनाथ के पिता विश्वनाथ दत्त कलकत्ता हाईकोर्ट के सुप्रसिद्ध एटार्नी थे। वे अंग्रेजी तथा फारसी भाषा के विद्वान्, बुद्धिमान और संगीतप्रेमी थे। धीर-गम्भीर स्वभाव, विद्यानुराग, तेजस्विता, उदारता एवं स्वाधीन विचार – यह उनके चरित्र का वैशिष्ट्य था। साथ ही वे गरीबों के प्रति सदा सहानुभूतिशील, दान में मुक्तहस्त एवं अनेक सगे-सम्बन्धियों के प्रतिपालक थे।

माता भुवनेश्वरी देवी का चरित्र भी अनुपम था। वे रमणीकुल की रत्नस्वरूपा थीं। तभी तो वे रत्नगर्भा बन सकीं – नररत्न को जन्म दे सकीं। हिन्दू समाज में नारियाँ ही शक्ति की मूल उद्‌गम हैं। उन्हीं के व्यक्तित्व तथा चरित्र का प्रभाव उनकी सन्तानों पर विशेष रूप से पड़ता है। भुवनेश्वरी देवी विशेष बुद्धिमती, कार्यकुशल एवं भक्तिपरायण थीं। अपने मधुर स्वभाव के कारण वे सबकी प्रिय थीं। देवी-देवताओं के प्रति वे श्रद्धापरायण थीं तथा भक्तिपूर्वक पूजा-अर्चना आदि किया करती थीं। वे सभी दृष्टियों से एक आदर्श हिन्दू नारी थीं। उनके समान तेजस्विनी एवं सर्वगुणसम्पन्न नारियाँ वस्तुतः विरल हैं। आगे चलकर किसी समय स्वामी विवेकानन्द ने कहा था – "मुझमें जो ज्ञान का विकास हुआ है, उसके लिए मैं अपनी माता का चिरऋणी हूँ।"

शैशव से ही नरेन्द्रनाथ में असामान्य प्रतिभा एवं अदम्य शक्ति के चिह्न दिखने लगे थे। रोज रात को सोने के पहले किसी वृद्ध आत्मीय के मुख से 'मुग्धबोध' व्याकरण के सूत्र सुन-सुनकर उन्हें वह प्रायः पूरा ही कण्ठस्थ हो गया था। माता के मुख से सुनकर रामायण तथा महाभारत के कई अंश बालक बड़े सुन्दर ढंग से दुहरा पाता था। बाल्य-अवस्था से ही वह बड़ा मेधावी, बुद्धिमान, निर्भीक, साहसी और मित्रप्रिय था। वह श्रुति-स्मृतिधर भी था – एक बार जो पढ़ता या सुन लेता वह सदा के लिए उसके स्मृतिपटल पर अंकित हो जाता।

अद्‌भुत क्षमतासम्पन्न रामभक्त महावीर हनुमान बालक नरेन्द्र के जीवनादर्श के प्रतीक थे। इसीलिए आगे चलकर उन्होंने बल, वीर्य, साहस एवं पवित्रता के जीवन्त विग्रहस्वरूप हनुमानजी की पूजा जड़-निद्रित भारत के घर घर में प्रचलित करनी चाही थी।

शैशव से ही नरेन्द्र के नटखटपने की कोई सीमा नहीं थी। डराने-धमकाने और डाँट-फटकार के बावजूद उसे रोकते नहीं बनता था। चंचल बालक को गोद में लेकर माता कहती – "काफी सिर धुनकर शिवजी से एक पुत्र माँगा था, पर उन्होंने भेज दिया एक भूत।" उत्तरकाल में स्वामी विवेकानन्द की पाश्चात्य शिष्याओं को नरेन्द्र के बचपन की शरारतों की कहानी सुनाते हुए वृद्ध जननी भुवनेश्वरी देवी ने सगर्व कहा था – "अरी, तुम्हें क्या बताऊँ ? उसे सम्हालने के लिए दो महरियाँ आठों पहर उसके पीछे पीछे घूमा करती थीं।"

फिर बचपन से ही नरेन्द्र में ध्यानपरायणता भी दिखाई देती थी। वह मानो उसका सहजात संस्कार था। एक दिन वह साथियों के साथ खेल खेल में मकान के तिमंजले पर शिवजी की मूर्ति के सामने ध्यान करने बैठा। थोड़ी देर बाद एक बालक 'साँप साँप' कहकर चिल्ला उठा। साथ के सभी बालक दरवाजा खोलकर निकल भागे। किन्तु नरेन्द्र ध्यानमग्न बैठा रहा ! . . . कुछ समय बाद साँप अपना फन समेटकर चला गया। बहुत ढूँढ़ने पर भी उसका कोई सुराग नहीं मिला। बाद में यह सब सुनकर नरेन्द्र ने कहा था – "मुझे तो कुछ भी पता नहीं चला।"

दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्णदेव ने एक दिन कहा था – "नरेन ध्यानसिद्ध महापुरुष है। जिस दिन जान जाएगा कि वह कौन है, उस दिन से वह इस संसार में नहीं रह सकेगा। दृढ़ संकल्प के बल पर उसी क्षण योगमार्ग से शरीर त्याग देगा।"

छह वर्ष की आयु में नरेन्द्र को पाठशाला भेजा गया। किन्तु थोड़े ही दिनों में उसे सहपाठियों से अपशब्द सीखते देख विश्वनाथ दत्त ने उसका पाठशाला जाना बन्द करा दिया। और घर पर ही शिक्षक नियुक्त कर उसकी शिक्षा की व्यवस्था कर दी।

सात वर्ष की आयु में जब नरेन्द्र को ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा स्थापित मेट्रोपॉलिटन इन्स्टिटयूशन में भरती कराया गया, तब पहले तो वह अंग्रेजी पढ़ने के लिए किसी भी प्रकार तैयार नहीं हुआ। उसका कहना था – "वह तो विदेशी भाषा है, उसे क्यों पढ़ूँ ? उससे तो अपनी भाषा सीखना ही अच्छा है।" ऐसा कुछ महीनों तक चलता रहा। बाद में उस बालक के मन में परिवर्तन हुआ। फिर वह बड़े उत्साह के साथ अंग्रेजी सीखने लगा। कहा जाता है कि नरेन्द्र ने अपनी माता के निकट ही सर्वप्रथम अंग्रेजी वर्णमाला पढ़ी थी।

बचपन से ही नरेन्द्र 'भय' का नाम तक नहीं जानता था। हौआ का डर, भूत का डर या ब्रह्मदैत्य का डर दिखाने पर वह हँसकर उड़ा देता। किसी ने कहा है इसीलिए उस पर विश्वास कर लेना – यह उसके स्वभाव के विरुद्ध था। किसी भी बात का जब तक उसे प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिल जाता, वह उस पर विश्वास नहीं करता।

स्कूल का पाठ तैयार करने में नरेन्द्र को अधिक समय नहीं लगता था। मास्टर साहब पढ़ते जाते और नरेन्द्र आँख मूँदे लेटे लेटे सुनता रहता – इसी से उसे सब याद हो जाता था। अब बचा हुआ समय कैसे बिताया जाय ? अत: वह मुहल्ले के बालकों के साथ व्यायाम, नाटक आदि कितनी ही चीजों में भाग लेता रहता। खेलकूद, तैरना आदि सभी में वह प्रथम स्थान प्राप्त कर लेता। जन्म से ही वह नेता था। परवर्ती काल में स्वामी विवेकानन्द कहते थे – "ठोक-पीटकर किसी को नेता नहीं बनाया जा सकता। नेता होनेवाला नेता बनकर ही जन्मता है।"

नरेन्द्र के बालसुलभ के नटखटपन तथा अद्भुत साहस की अनेक घटनाएँ सुनने में आती हैं। वह सब तो मानो रोज की ही बात थी। तभी तो विश्वविजयी बनकर अमेरिका से लौट आने के बाद अपने शिष्यों से विनोद करते हुए उन्होंने कहा था – "मैं बड़ा नटखट था। अन्यथा क्या यों ही सारी दुनिया घूमकर आ जाता ?"

नरेन्द्र के अन्तर में जो विराट् पुरुष वास करता था, उसी की सक्रिय शक्ति के प्रभाव से उसमें बाल्यावस्था से ही महान् तेज दिखायी देता था। यह शक्ति उसमें विविध रूपों में, नाना प्रकार से प्रकट होती थी। केवल सप्तर्षिमण्डल के ऋषि ही नहीं, व्यास-वाल्मीकि आदि प्राचीन आर्य ऋषि, बुद्ध-शंकराचार्य आदि लोकोत्तर आचार्यगण तथा भीष्म-अर्जुन आदि शूरवीर पुरुष – ये सभी महान् आत्माएँ मानो नरेन्द्रनाथ के भीतर एक साथ जन्मी थीं। इसीलिए उसके भीतर विपुल आध्यात्मिक शक्ति, विलक्षण इहलौकिक और पारलौकिक ज्ञान, दया-करुणा, परदुःखकातरता, साम्य-मैत्री-स्वाधीनता-प्रेम, आत्मविश्वास, तेज, शौर्य, वीर्य, धीर-स्थिरता आदि शारीरिक एवं मानसिक गुणों और सर्वोपरि अप्रतिद्वन्द्वी नेतृत्व के भाव का इतनी प्रखरता के साथ विकास हुआ था। आगे चलकर उन्होंने समस्त संसार को प्लावित करनेवाली जो महान् धर्मतरंग बहायी, उसकी शुभ सूचना उनके बाल्यजीवन में ही पायी जाती है। बचपन की छोटी-बड़ी अनेक घटनाओं और कार्यकलापों के परिणामस्वरूप ही नरेन्द्रनाथ परवर्ती काल में स्वामी विवेकानन्द के रूप में परिणत हो सके थे।

बचपन से ही दीन-दुखियों का कष्ट देखकर नरेन्द्र के प्राण रो उठते थे। पास देने योग्य कुछ न मिलने पर उन्हें अपने अंग के वस्त्र ही दे डालता। निर्धनों को कुछ देकर उसे परम सन्तोष का अनुभव होता। दुखियों के दुःख-कष्टों को वह अपने अन्तःकरण से अनुभव करता और उनके दुःख दूर करने का उपाय सोचने में उसका चित्त व्यग्र हो उठता। दीन, दलित एवं उपेक्षितों का कल्याण करना – यही मानो उसका जीवनव्रत था। आगे चलकर अमेरिका से स्वामी विवेकानन्द ने एक पत्र में लिखा था – "जो लाख लाख उपेक्षित नर-नारी दिन-प्रतिदिन दुःख के अँधेरे गर्त में अधिकाधिक डूबते जा रहे हैं, जिन्हे सहायता देनेवाला या जिनके बारे में सोचनेवाला कोई नहीं, जो दीन-हीन एवं पीड़ित हैं, उनके द्वार तक सुख-स्वच्छन्दता, धर्म, नीति एवं शिक्षा ढोकर पहुँचा देना होगा। यही मेरी आकांक्षा और यही मेरा व्रत है। मैं उसे पूरा करूँगा या मृत्यु का वरण करूँगा।" भारत की हतसर्वस्व जनता के उद्धार का संकल्प लेकर उन्होंने विश्वकल्याण की

बलिवेदी पर अपने जीवन का उत्सर्ग कर दिया। वे दीनों के त्राता थे। यही उनके चरित्र का महत्तम पहलू था। इसी महान् कार्य के लिए उन्होंने देहधारण किया था।



परीक्षा में उत्तीर्ण होना नरेन्द्र के लिए एक साधारण-सी बात थी। वह परीक्षा के केवल एक-दो महीने पहले पाठ्यपुस्तकों को हाथ लगाता। किन्तु अपनी असामान्य मेधा के फलस्वरूप वह सदैव सम्मान के साथ उत्तीर्ण होता। पाठ्यपुस्तकों की क्षुद्र सीमा के भीतर उसकी ज्ञानस्पृहा तृप्त नहीं होती थी। प्रवेशिका परीक्षा के पूर्व ही उसने भारत के इतिहास पर लिखे प्राय: सभी ग्रन्थों एवं प्रसिद्ध लेखकों द्वारा रचित साहित्य आदि का अध्ययन कर विभिन्न विषयों से अपने ज्ञानभण्डार को समृद्ध बना लिया था।

पिता विश्वनाथ दत्त ने घर में एक बड़े उस्ताद को नियुक्त कर नरेन्द्रनाथ को शास्त्रीय संगीत की शिक्षा दिलायी थी। श्रीरामकृष्णदेव को नरेन्द्र का संगीत अत्यन्त प्रिय था। उसका गाना सुनते सुनते श्रीरामकृष्ण का मन अतीन्द्रिय राज्य में पहुँच जाता – वे समाधिमग्न हो जाते। वे कहा करते – "इसके अन्दर जो है, वह नरेन्द्र का गाना सुनते ही फुफकार उठता है।" अर्थात् नरेन्द्र का गाना सुनते ही उनकी कुण्डलिनीशक्ति जाग उठती थी। नरेन्द्र न केवल गायन में पारंगत था, अपितु तबला, पखावज, मृदंग, सितार, दिलरुबा आदि वाद्य बजाने में भी सिद्धहस्त था। उसने नृत्य भी सीखा था। पाश्चात्य देशों में जाने के बाद वे वहाँ के संगीत में भी विज्ञ हो गये थे।

नरेन्द्र का शरीर सुदृढ़ और बलिष्ठ था। उम्र के कुछ बढ़ते ही वह एक ओर अश्वारोहण में निपुण, तैरने में निष्णात और व्यायामकुशल हो गया; तो दूसरी ओर दर्शनादि विभिन्न शास्त्रों में विद्वान, नृत्य, गीत एवं विविध वाद्यों के वादन में निपुण तथा हास्यविनोदप्रिय रसिक बन गया। गम्भीर चिन्तनशील, पवित्रचित्त, ध्यानपरायण, अध्ययनशील तो वह था ही। इन बहुविधगुणों से विभूषित व्यक्तित्व के फलस्वरूप उसका सर्वजनप्रिय हो जाना स्वाभाविक ही था।

मेट्रोपॉलिटन इन्स्टिटयूट में पढ़ते समय किसी कार्यक्रम के अवसर पर नरेन्द्र के भीतर निहित 'वाग्मी विवेकानन्द' ने स्वयं को प्रकट किया था। शाला में पारितोषिक-वितरण के साथ ही किसी ज्येष्ठ शिक्षक की सेवानिवृत्ति के उपलक्ष्य में सभा हुई थी। सभा के अध्यक्ष थे विख्यात वक्ता श्री सुरेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय। उनके सामने खड़े होकर भाषण देने का साहस किसी को नहीं हुआ। तब सब के आग्रह से विवश हो नरेन्द्रनाथ कुछ कहने के लिए उठ खड़ा हुआ और शुद्ध अंग्रेजी में आधे घण्टे तक उसने बड़ा ही मनोरम और हृदयस्पर्शी भाषण दिया। भाषण समाप्त कर जब वह बैठा तो चारों ओर उसकी प्रशंसाध्वनि गूँजने लगी। अध्यक्ष ने व्याख्यान की प्रशंसा तो की ही, साथ ही वक्ता के उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में भी उन्होंने स्पष्ट संकेत प्रदान किया था।

□□□

३. श्रीरामकृष्ण के चरणों में

बाल्यावस्था से ही नरेन्द्र का अन्त:करण धर्मभाव से परिपूर्ण था। तरुण होने पर वह उसी प्रेरणा से अखण्ड ब्रह्मचर्यपालन, साधन-भजन एवं कठोर तप में मग्न रहने लगा। कितनी ही रातें वह बिना सोये गहरे ध्यान में बिता देता। धर्मलाभ की आकांक्षा से उसने ब्राह्मसमाज में आना-जाना प्रारम्भ किया और समाज की प्रार्थना आदि में सम्मिलित हो आनन्द का अनुभव करने लगा। सुकण्ठ गायक नरेन्द्रनाथ ब्राह्मसमाज की रविवासरीय उपासना के समय मधुर भजन गाकर सब को आनन्दित कर देता था। थोड़े ही समय में यह सुदर्शन, सुदृढ़ नाना गुणों से युक्त युवक केशवचन्द्र सेन आदि ब्राह्म नेताओं का विशेष प्रियपात्र बन गया। ब्राह्मसमाज का सदस्य बनकर उसने निराकार-सगुण ब्रह्म की उपासना में मनोयोग किया। ब्राह्मसमाजियों की ही भाँति वह प्रकट रूप से हिन्दू धर्म की रूढ़ियों तथा रीती-रिवाजों की निन्दा करने लगा और स्त्रीशिक्षा एवं नारी-स्वाधीनता आदि के प्रयोजन का जोरों से प्रचार करने लगा।

दिव्यशक्ति-सम्पन्न नरेन्द्रनाथ को बाल्यजीवन से ही अनेक अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ हुआ करती थीं। प्रतिदिन रात को सोते समय आँखें मूँदते ही उसे भौंहों के मध्यभाग में एक अपूर्व ज्योति-बिन्दु दिखाई देता। वह ज्योति-बिन्दु क्रमश: विविध वर्णों में विस्तृत होते हुए धीरे धीरे उसके सम्पूर्ण शरीर तथा मन में छा जाता। स्वयं को इस अखण्ड ज्योतिसमुद्र में निमग्न अनुभव करता हुआ नरेन्द्र सो जाता।

धर्म का मूल उद्देश्य है ईश्वरलाभ। नरेन्द्र अब इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अधीर हो उठा। भूमा – चिरन्तन सुख – की खोज में उसके प्राण आकुल हो उठे। प्राणों की व्याकुलता से प्रेरित हो वह कलकत्ते के भिन्न भिन्न धर्म-प्रचारकों के निकट जाने लगा। अन्त में एक दिन वह महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के समीप

जा पहुँचा। उपासना एवं ध्यान-चिन्तन की सुविधा के लिए महर्षि उस समय कलकत्ते के निकट गंगा पर एक नाव में निवास कर रहे थे। नरेन्द्र ने पागलों की तरह नाव में प्रवेश कर महर्षि से सहसा पूछ लिया – "महाशय, क्या आपने ईश्वर को देखा है?"

महर्षि सम्भवत: ऐसे प्रश्न के लिए प्रस्तुत नहीं थे। युवक की ओर क्षण भर ताकते रहने के पश्चात् वे बोले, "तुम्हारी आँखें बिलकुल योगी की आँखों-जैसी हैं।" नरेन्द्र बड़ी आशा लेकर महर्षि के निकट गया था; कुछ न पाकर निराश लौट आया। उसके हृदय की अशान्ति और बढ़ गयी। मन में सदैव यही विचार उठने लगा – भला ऐसे तत्त्वदर्शी महापुरुष कहाँ मिलेंगे जो मुझे भूमानन्द की प्राप्ति का मार्ग दिखा सकें ?

इसी बीच दैवी इच्छानुसार घटनाक्रम से नरेन्द्र का श्रीरामकृष्ण से मिलन हुआ। अपने कालेज के अध्यापक हेस्टी साहब के निकट नरेन्द्र ने पहली बार श्रीरामकृष्ण का नाम सुना था। फिर उसे केशवचन्द्र सेन के भाषण एवं उनके द्वारा संचालित पत्रिका आदि से श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में कई बातें ज्ञात हुईं, किन्तु इस जानकारी के फलस्वरूप नरेन्द्र श्रीरामकृष्ण से मिलने को कितना उत्सुक हुआ, यह हमें ज्ञात नहीं। तथापि हम बाद में देखेंगे कि श्रीरामकृष्ण के साथ नरेन्द्र का यह मिलन मानो समुद्र के साथ नदी का, स्वर्ग के साथ मर्त्यलोक का एवं विश्व के साथ भारत का मिलन था।

नरेन्द्रनाथ ने जीवन के अठारहवें वर्ष में पदार्पण किया। एफ. ए. की परीक्षा के लिए उनकी तैयारी चल रही थी। उन्होंने पूर्वी तथा पश्चिमी दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन किया था। वे सन्देहवाद तथा नास्तिकवाद के साथ परिचित थे। सगुण ब्रह्म के उपासक थे। मूर्तिपूजन में विश्वास नहीं करते थे। ऐश्वर्य-समृद्धि में पले थे, रंग-रूप में, पढाई-लिखाई में, गाने-बजाने में, बोलने-चालने में उत्कृष्ट थे; किन्तु दीन-दुखियों के लिए उनके प्राण रोया करते थे। इस विश्व-संसार का कोई नियामक है भी या नहीं ? यदि है तो कौन है ? क्या उसे देखा जा सकता है ? दयामय ईश्वर के राज्य में इतना दु:ख, इतनी विफलता, इतना

अन्याय क्यों ? . . . इन प्रश्नों का समाधान उन्हें खोजे नहीं मिलता था। संसार में इतनी विषमता, धनी और निर्धन के बीच ऐसी खाई किसने बनायी ? जब सभी एक ही ईश्वर की सन्तान हैं, तब ब्राह्मण और चण्डाल के बीच इस दुर्लंघनीय अन्तराल का सृजन कैसे हुआ ? – इस प्रकार के सैकड़ों विचार उनके तरुण हृदय को मथ रहे थे। पर उनका जीवन शिशिर-धौत पुष्प की भाँति पवित्र था। उनकी आँखें कमल की पँखुडियों जैसी स्निग्ध थी।

ऐसे ज्ञानी, गुणी, आत्मविश्वासी और युक्तिवादी नरेन्द्र का मिलन हुआ निरक्षर, निर्धन पुजारी ब्राह्मण रामकृष्ण के साथ। वे दक्षिणेश्वर में भवतारिणी कालीमाता की पूजा करते थे। जीवन में उन्होंने भगवान् के सिवा दूसरा कुछ भी नहीं चाहा था। न कभी भाषण दिया, न प्रचार किया, न कोई पुस्तक ही लिखी। दुर्गम हिमालय की गुफाओं में भी वे तपस्या करने नहीं गये। जनबहुल कलकत्ता नगरी के पास दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर में ही उन्होंने लगभग तीस वर्ष निवास किया था। किन्तु केशवचन्द्र सेन, विजयकृष्ण गोस्वामी, शिवनाथ शास्त्री आदि ब्राह्मसमाज के नेतागण इन 'निरक्षर' अद्भुत पुरुष के चरणों-तले स्तब्ध होकर घण्टों बैठे रहते, मन्त्रमुग्ध हो उनके श्रीमुख से भगवत्प्रसंग सुनते रहते, उनकी भावसमाधि देखकर विस्मित हो जाते, सोचते – शास्त्र आदि कुछ न पढ़कर भी ऐसी सुन्दर बातें, जो हमें भी नहीं मालूम, ये कैसे बताते हैं ! दिखने में पागलों की तरह दिखते – अपने वस्त्रों का भी ख्याल उन्हें नहीं रहता; किन्तु जब वे माता का नाम-गुणगान करते, तो सुननेवालों के हृदय में वह तीर की तरह जा बिंधता, हृदय मानो फटने लगता। माँ काली ही उनका ईश्वर थीं उनका ब्रह्म थीं। छोटे बालक की भाँति वे सदा 'माँ माँ' करते रहते। माता का गुणगान करते रहते। माता ही के विषय में बोला करते। उनकी दृष्टि में माँ काली पत्थर की मूर्ति नहीं थीं। वे क्या मूर्ति की पूजा करते थे ? – नहीं वे तो पूजा करते चिन्मयी, त्रिगुणमयी जगज्जननी की – सृष्टिस्थितिप्रलयकारिणी, वराभयदायिनी की। जगदम्बा भी उनके साथ मानवी माता की तरह बातचीत करतीं, उनके हाथ से खातीं, उन्हें कितने ही उपदेश-निर्देश देतीं। इन्हीं माँ काली के चिन्तन में वे निशि-दिन

निरन्तर विभोर रहते।

सन् १८८१ के नवम्बर माह की बात है। कलकत्ता के सिमुलिया मुहल्ला निवासी सुरेन्द्रनाथ मित्र ने एक दिन अपने मकान पर श्रीरामकृष्ण एवं उनके भक्तों को सादर आमन्त्रित कर एक छोटे-से उत्सव का आयोजन किया। भजन गाने के लिए अच्छे गायक की आवश्यकता थी। सुरेन्द्रनाथ अपने पड़ोसी विश्वनाथ दत्त के पुत्र नरेन्द्रनाथ को बुला लाये। गायक को देखते ही श्रीरामकृष्णदेव चौंक उठे। अरे ! यह तो वही सप्तर्षिमण्डल का ऋषि है। अपने अतीन्द्रिय दर्शन के द्वारा वे इस अपरिचित युवक का परिचय जान गये।

नरेन्द्र ने हृदय खोलकर गाया। गीत सुनकर श्रीरामकृष्णदेव भावसमाधि में मग्न हो गये।

भजन आदि के समाप्त हो जाने पर श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र के समीप आकर उससे एक दिन दक्षिणेश्वर आने के लिए आग्रह किया। शिष्टाचारवश नरेन्द्र ने भी आने का वचन दिया।

इस घटना के कुछ सप्ताह बाद नरेन्द्रनाथ की एफ. ए. परीक्षा समाप्त हुई। साथ ही साथ उन्हें एक अग्निपरीक्षा का भी सामना करना पड़ा। पिता ने किसी सम्पन्न परिवार की कन्या के साथ उनका विवाह निश्चित किया था। कन्या श्यामवर्ण की थी, इसलिए दस हजार रुपये दहेज में मिलनेवाले थे। प्रस्ताव सुनते ही नरेन्द्र ने विरोध किया। उन्होंने दृढ़तापूर्वक स्पष्ट उत्तर दिया – "मैं किसी भी हालत में विवाह नहीं करूँगा।" इस घटना से, नरेन्द्र के नैसर्गिक वैराग्यप्रवण मन में तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। वे और अधिक ध्यान-भजन में डूब गये। उनका ब्राह्मसमाज में आना-जाना और भी बढ़ गया।

श्रीरामकृष्ण के भक्त डॉ. रामचन्द्र दत्त नरेन्द्र के आत्मीय थे तथा उन्हीं के घर रहकर उनका पालन-पोषण हुआ था। धर्म-भाव की प्रेरणा से नरेन्द्र के हृदय में इस प्रकार का वैराग्य उदित हुआ है यह जानकर उन्होंने एक दिन नरेन्द्र से कहा, "भाई, यदि यथार्थ धर्म-लाभ करना ही तुम्हारे जीवन का उद्देश्य हो, तो तुम ब्राह्मसमाज आदि का चक्कर न लगाकर दक्षिणेश्वर में रामकृष्णदेव के पास

जाओ।''

यह बात नरेन्द्र के मन में बैठ गयी। एक दिन पड़ोसी सुरेन्द्रनाथ ने उन्हें अपने साथ गाड़ी में दक्षिणेश्वर चलने का निमन्त्रण दिया। कुछ मित्रों को संग लिए वे सुरेन्द्रनाथ के साथ दक्षिणेश्वर पहुँचे।

❑❑❑

४. दक्षिणेश्वर आगमन

सन् १८८१ का दिसम्बर महीना। दक्षिणेश्वर आकर गंगा की ओरवाले दरवाजे से नरेन्द्र ने अपने साथियो के संग श्रीरामकृष्ण के कमरे में प्रवेश किया। उन्हें देखते ही श्रीरामकृष्ण ने फर्श पर बिछी चटाई पर बैठने को कहा। फिर गाने के लिए अनुरोध किये जाने पर नरेन्द्र ने मन-प्राण उँड़ेलकर दो भजन गाये –

'मन चल अब स्व-निकेतन रे।
जग विदेश में, दीनवेश में, भ्रमता किस कारन रे।। ....'[१]
'विफल रहेगा क्या यह जीवन, दिन जावेंगे बीत।
आस लगाए बैठा निसदिन, प्रभु मैं दास विनीत।। ....'[२]

नरेन्द्र के भावपूर्ण मधुर स्वर की झंकार से कमरा गूँज उठा। श्रीरामकृष्ण स्वयं को सम्हाल नहीं सके। "अहा ! अहा !" कहते हुए समाधिमग्न हो गये। फिर कुछ सहज अवस्था में आने के बाद वे तन्मयता के साथ ईश्वरीय प्रसंग करने लगे उन्हें पुन: भावसमाधि हुई। नरेन्द्र विस्मयमुग्ध चित्त से इन रहस्यपूर्ण व्यक्ति की ओर देखते रहे। आश्चर्यचकित होकर वे सोचने लगे – "ये जो कुछ कह रहे हैं, वे किताब में पढ़ी या रटी हुई बातें तो नहीं मालूम होती।"

भगवान् को कभी देखा जा सकता है या नहीं ? – इस प्रश्न के उत्तर में श्रीरामकृष्ण ने आशाभरे शब्दों में कहा, "हाँ जी, उन्हें देखा जा सकता है। मैं जैसे तुम्हें देख रहा हूँ, तुमसे बातचीत कर रहा हूँ, ठीक वैसे ही – बल्कि उससे भी अधिक स्पष्ट रूप से ईश्वर को देखा जा सकता है, उनसे वार्तालाप किया जा सकता है। किन्तु भला उन्हें चाहता कौन है ? लोग स्त्री-पुत्रों के शोक में घड़ों आँसू बहाते हैं, सम्पत्ति, धन-दौलत के लिए कितना रोते हैं; पर भला बताओ

---

१. 'मन चलो निज निकेतने। संसार-विदेशे, विदेशीर वेशे, भ्रमो केनो अकारणे।। ....'
२. 'जाबे कि हे दिन आमार विफले चलिये।' आछि नाथ दिवानिशि आशापथ निरखिये।। ....'

तो, भगवान्-लाभ नहीं हुआ इसलिए कौन रोता है ? उनकी प्राप्ति नहीं हुई इस दु:ख से यदि कोई रो-रोकर उन्हें पुकारे, तो उसे वे निश्चित रूप से दर्शन देते हैं।''

श्रीरामकृष्ण के शब्दों ने नरेन्द्र के अन्त:करण को छू लिया। वे स्तब्ध होकर सोचने लगे – ''पागल-जैसे होने पर भी ये परम पवित्र हैं, महात्यागी हैं। इन्होंने ईश्वर के दर्शन किये हैं। ये सभी मानवों की हार्दिक श्रद्धा, पूजा और सम्मान पाने के अधिकारी हैं।''

दक्षिणेश्वर से घर लौटकर नरेन्द्र ने पढ़ाई-लिखाई में मन लगाने का प्रयत्न किया। किन्तु वे किसी भी तरह श्रीरामकृष्ण को भूल नहीं पा रहे थे। दिन-रात श्रीरामकृष्ण का ही विचार उन्हें बेचैन किये रहता। अन्त में चिन्ता से व्याकुल एक दिन वे अकेले ही दक्षिणेश्वर की ओर चल पड़े। दक्षिणेश्वर में उनके प्रथम आगमन को एक मास बीत चुका था। इधर श्रीरामकृष्ण मानो नरेन्द्र के आने की बात जानकर ही अपने कमरे में छोटे तख्त पर अकेले बैठे प्रतीक्षा कर रहे थे।

नरेन्द्र के आते ही वे आनन्द से अधीर हो उठे और ''तू आया है ?'' कहकर उनका हाथ पकड़कर उन्हें तख्त पर अपने पास बैठा लिया। फिर वे बड़े स्नेह से उनकी ओर देखने लगे। देखते ही देखते श्रीरामकृष्ण में अद्‌भुत भावान्तर उपस्थित हुआ। वे भावाविष्ट हो अस्पष्ट स्वर में अपने आप से ही कुछ बोलते हुए धीरे धीरे नरेन्द्र के बिलकुल निकट आ गये। इसके बाद जो हुआ उनका वर्णन नरेन्द्रनाथ ने इस प्रकार किया है : ''... अकस्मात् मेरे निकट आकर उन्होंने अपने दाहिने पाँव से मुझे छू दिया। उस स्पर्श से क्षणभर में ही मुझे एक अपूर्व अनुभूति हुई। आँखें खुली ही थी – देखा, दीवार समेत कमरे की सारी चीजें बड़े वेग से घूमती हुई न जाने कहाँ विलीन होती जा रही हैं और समग्र विश्व के साथ मेरा मैं-पन भी मानो एक सर्वग्रासी महाशून्य में विलीन हो जाने के लिए वेग से बढ़ता चला जा रहा है। मैं अत्यन्त भय से विह्वल हो गया। मन में आया – मैं-पन का नाश ही तो मृत्यु है ! वही मृत्यु सामने, अति निकट आ पहुँची है ! अपने को सम्हाल न सकने के कारण मैं चिल्ला उठा – 'अजी, आपने मेरा

यह क्या कर डाला ? मेरे माता-पिता जो हैं !'

"वे अद्भुत 'पागल' मेरी यह बात सुन ठहाके मारकर हँस उठे। फिर अपने हाथ से मेरी छाती का स्पर्श कर वे कहने लगे, 'तो अब रहने दे। एक ही बार में आवश्यक नहीं, समय पर होगा।' और आश्चर्य की बात यह कि उनके इस प्रकार स्पर्श कर वह बात कहते ही मेरी वह अपूर्व अनुभूति एकदम चली गयी। मैं होश में आया और कमरे के भीतर-बाहर की सभी वस्तुएँ मुझे फिर पहले ही जैसी स्थित दिखाई देने लगी।"

एक पल के भीतर ही यह सारी घटना घट गयी। नरेन्द्र ने सोचा – क्या यह सम्मोहन-विद्या है ? इन्द्रजाल है ? उन्होंने दृढ़ संकल्प किया कि अब फिर इस तरह इनके हाथों की कठपुतली नहीं बनूँगा। फिर यह भी सोचा कि जो व्यक्ति पल भर में मेरे जैसे दृढ़ इच्छाशक्ति-सम्पन्न मनुष्य के मन को मिट्टी के लौंदे की तरह तोड़ और गढ़ सकता है, वह कोई सामान्य व्यक्ति तो है नहीं। अवश्य ही वे असाधारण शक्ति-सम्पन्न है। इस घटना से नरेन्द्र के आत्मविश्वास और चित्त की दृढ़ता पर एक प्रचण्ड आघात हुआ। वास्तव में नरेन्द्रनाथ जिस ब्रह्मज्ञान में प्रतिष्ठित होना चाहते थे, वही ब्रह्मज्ञान श्रीरामकृष्ण ने उस दिन उन्हें देना चाहा था। पर उनके ध्यान में आया कि अभी उसका समय नहीं आया है। कुछ वर्ष बाद काशीपुर के उद्यानभवन में नरेन्द्र को निर्विकल्प समाधि में प्रतिष्ठित कर उन्होंने वह ज्ञान – वह अपरोक्षानुभूति – प्रदान की। वह घटना हम यथास्थान कहेंगे।

इस घटना के समाप्त होते ही श्रीरामकृष्ण मानो एक पूर्णतया भिन्न व्यक्ति बन गये। वे अब नरेन्द्र को खिलाने-पिलाने और उनकी आवभगत करने को व्यग्र हो उठे। तरह तरह से नरेन्द्र के प्रति प्रेम प्रकट करने लगे, इतने पर भी मानो उन्हें तृप्ति नहीं होती थी। इधर सन्ध्या हो आयी। नरेन्द्र विदा लेने लगे। श्रीरामकृष्ण ने हठपूर्वक कहा, "बोलो फिर शीघ्र ही आओगे !" अत: उन्हें वैसा ही वचन देकर नरेन्द्र कलकत्ता लौट आये।

किन्तु उक्त घटना के प्रभाव से मन को मुक्त कर लेना नरेन्द्र के लिए सम्भव नहीं हुआ। वे दृढ़ संकल्पपूर्वक इस रहस्य का भेदन करने को कटिबद्ध हो गये।

उस अद्भुत पुरुषश्रेष्ठ की बात वे जितना ही सोचते, उतना ही उन्हें सब कुछ दिवास्वप्न की तरह प्रतीत होने लगता। इस प्रकार की उलझन में पड़े लगभग एक सप्ताह बाद वे पुन: दक्षिणेश्वर आ पहुँचे। उस दिन श्रीरामकृष्ण उन्हें अपने साथ समीपस्थ यदु मल्लिक के उद्यान में घूमाने ले गये। थोड़ी देर इधर-उधर टहलने के बाद दोनों बैठकखाने में जा बैठे। देखते ही देखते श्रीरामकृष्ण का भावान्तर हुआ। नरेन्द्र धीर-स्थिर रहकर सब कुछ देख रहे थे। किन्तु उनके विशेष सतर्क रहने के बावजूद पूर्व दिन की भाँति श्रीरामकृष्ण ने उनके निकट आकर उन्हें फिर छू दिया। उस स्पर्श का प्रभाव ऐसा था कि बहुत प्रयत्न करने पर भी नरेन्द्र स्वयं को सम्हाल नहीं सके। उनका बाह्य ज्ञान पूर्णत: लुप्त हो गया। वे कितनी देर उस अवस्था में रहे, उनकी चेतना फिर कब लौटी – इस विषय में वे कुछ भी नहीं जान सके। बाह्य ज्ञान लौटने पर उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्ण उनकी छाती पर स्नेहपूर्वक हाथ फेर रहे हैं, उनके मुख पर मृदू मधुर मुसकान झलक रही है। नरेन्द्र बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने स्वयं को अत्यन्त असहाय अनुभव किया।

उस दिन की घटना के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण ने बाद में कहा था – "नरेन्द्र का बाह्यज्ञान लुप्त हो जाने पर उससे उस दिन अनेक बातें पूछी। वह कौन है, कहाँ से आया हैं, क्यों जन्मा है, कितने दिन धराधाम में रहेगा, आदि आदि। – वे सब गुप्त बातें हैं ! पर उन बातों से यह भी जाना कि जिस दिन नरेन्द्र जान जाएगा कि वह कौन है, उस दिन वह इस लोक में नहीं रहेगा। दृढ़ संकल्पपूर्वक योगबल के प्रभाव से वह उसी क्षण देह त्याग देगा। नरेन्द्र ध्यानसिद्ध महापुरुष है, सप्तर्षिमण्डल का एक ऋषि है।"

सन् १८८१ नवम्बर से लेकर सन् १८८६ अगस्त अर्थात् श्रीरामकृष्णदेव की महासमाधि तक दीर्घ पाँच वर्ष नरेन्द्र को इन लोकोत्तर देवमानव के सान्निध्य का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इस दौरान उनके जीवन में आमूल परिवर्तन हुआ। सर्वभावमय श्रीरामकृष्ण ने नाना आघात-प्रत्याघात, संघर्ष एवं कठोर साधना के माध्यम से नरेन्द्र के जीवन को परिपूर्ण बना दिया। यद्यपि नरेन्द्र श्रीरामकृष्ण के प्रति श्रद्धा रखते थे, फिर भी वे बिना विचारे उनकी

बातों को ग्रहण नहीं करते थे। वे दक्षिणेश्वर जाकर भी कालीमन्दिर में नहीं जाते थे। मूर्तिपूजा पर उनका विश्वास नहीं था, इसलिए वे काली की मूर्ति को प्रणाम तक नहीं करते। श्रीरामकृष्ण के अलौकिक दर्शनादि की सत्यता पर उनका विश्वास नहीं जमता था। उनके दर्शनादि की सारी बातों को वे एक ही वाक्य में उड़ा देते; कहते – "आप ईश्वरी रूप आदि जो देखते हैं, वह सब दिमाग का ख्याल है।" परन्तु नरेन्द्र की बात से श्रीरामकृष्ण बिलकुल भी क्षुब्ध नहीं होते। असीम धैर्य के साथ वे उन्हें शिक्षा-दीक्षा दिये जा रहे थे।

एक दिन दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के कक्ष में केशवचन्द्र सेन, विजयकृष्ण गोस्वामी आदि लब्धप्रतिष्ठ ब्राह्म नेतागण उपस्थित थे। कई भक्तगण भी उपस्थित थे। काफी देर भगवत्प्रसंग के बाद केशवचन्द्र, विजयकृष्ण आदि के विदा लेकर चले जाने पर श्रीरामकृष्ण ने स्नेहपूर्वक नरेन्द्र की ओर ताकते हुए कहा – "देखा, कि जिस शक्तिविशेष के उत्कर्ष से केशव जगद्विख्यात बना है, वैसी अठारह शक्तियाँ नरेन्द्र के भीतर पूर्ण मात्रा में विद्यमान हैं। ... और भी देखा कि केशव और विजय के भीतर दीपशिखा की भाँति ज्ञानालोक जल रहा है; किन्तु नरेन्द्र के भीतर ज्ञानसूर्य ने उदित होकर माया-मोह का लेश तक दूर कर दिया है।"

अपनी प्रशंसा सुनकर फूल उठने के बजाय नरेन्द्रनाथ ने एकदम तीव्र प्रतिवाद करते हुए कहा, "महाराज, यह क्या कहते हैं ? ऐसी बातें करने से लोग आपको अवश्य ही पागल कहेंगे ! कहाँ जगत्प्रसिद्ध केशवचन्द्र सेन, महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी और कहाँ मुझ जैसा एक नगण्य युवक ! इनके साथ मेरी तुलना कर आप फिर कभी ऐसी बात न कहेंगे।"

इस पर स्मितहास्य करते हुए श्रीरामकृष्ण बोले, "क्या करूँ रे क्या तुझे लगता है कि मैं यों ही ऐसा कह रहा हूँ ? माँ (जगदम्बा) ने मुझे वैसा दिखाया, इसीलिए तो कह रहा हूँ।"

स्वामी विवेकानन्द के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण का कथन आगे चलकर अक्षरशः सत्य हुआ।

स्वामीजी कौन थे तथा संसार के कल्याण के लिए उन्होंने क्या किया – यह जानने और विचारने का समय अब आ गया है। स्वामीजी ने स्वयं कहा था – "यदि और एक विवेकानन्द होता तो वह समझ सकता कि यह विवेकानन्द क्या कर गया !" उन्होंने और भी कहा था – "मैं जो दे गया, वह डेढ़ हजार वर्ष की खुराक है।" विश्ववासियों के विचार-जगत् के लिए वे डेढ़ हजार वर्ष तक की खुराक दे गये। संसार के कल्याण के लिए, विश्वशान्ति के लिए स्वामीजी जो साम्य, मैत्री, स्वाधीनता, विश्वबन्धुत्व, विश्वमानवता आदि का भाव दे गये एवं सर्वोपरि जो अपूर्व आध्यात्मिक भावराशि प्रदान कर गये, वह सब अब धीरे धीरे भिन्न भिन्न माध्यमों के द्वारा कार्यान्वित हो रहा है। स्वामीजी की अमोघ भावधारा आज समस्त संसार के विचारशील व्यक्तियों को प्रेरणा-उद्दीपना दे रही है। वे भावरूप में जाग्रत् रहकर शतशत प्राणों में प्रेरणा का संचार कर रहे हैं।

□□□

५. पितृवियोग तथा धनाभाव

श्रीरामकृष्ण के जीवनादर्श से अनुप्राणित नरेन्द्रनाथ के लिए चरम एवं परम सत्यस्वरूप भगवान् को प्राप्त करना ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य बना। सब प्रकार के सुख-चैन का विसर्जन करते हुए उन्होंने कठोर ब्रह्मचारी का व्रत ग्रहण किया। वे पढ़ाई-लिखाई में लापरवाही तो नहीं करते, किन्तु रात्रि में व्याकुल हृदय से ईश्वर-चिन्तन करने में उनका बहुत-सा समय बीत जाता था।

बी. ए. की परीक्षा के बाद जब नरेन्द्र बी. एल. पढ़ रहे थे, तब (१८८४ ई. के प्रारम्भ में) एक दिन अचानक उनके पिता का देहान्त हो गया। उनके पिता की आय काफी थी, परन्तु अपरिमित व्यय एवं दान आदि के कारण वे कुछ भी छोड़कर नहीं जा सके, बल्कि कुछ ऋण ही रख गये थे। उनके देहान्त के एक-दो महिने के भीतर ही नरेन्द्र के पारिवारिक जीवन में एक महान् संकटमय परिस्थिति आ खड़ी हुई। पहला प्रश्न था – माता, भाई-बहन आदि छह-सात लोगों के अन्न-वस्त्र की व्यवस्था कैसे हो ? समय देखकर लेनदार आदि भी आ धमके। नरेन्द्रनाथ के जीवन में निर्धनता के साथ यह पहला ही सामना था। पिता के निधन का सूतक पूरा होने के पहले ही वे नंगे पैर नोकरी की खोज में घूमने लगे। माता का व्यथित मुख उनके प्राणों को आकुल किये देता था। छोटे भाई-बहनों का शीर्ण शरीर देखकर उनका चित्त व्यग्र हो उठता और वे नीरव आँसू बहाते। सबेरे उठकर पहले ही वे भण्डारघर की स्थिति का पता लगा लेते और कठिनाई देखने पर स्नान करके "मुझे निमन्त्रण है" – कहकर निकल जाते। फिर नौकरी की तलाश में भटकते हुए सारा दिन भूखे बिताकर रात को घर लौटते। अवसर देखकर रिश्तेदारों ने जबरदस्ती मकान पर कब्जा कर लिया। माता और भाई-बहनों को लेकर नरेन्द्र ने नानी के घर में आश्रय लिया। उच्च न्यायालय में मामला दायर किया गया। निःसम्बल, निराश्रय परिस्थिति में पड़े

नरेन्द्र को चारों ओर अँधेरा ही अँधेरा दिखाई देने लगा।

नरेन्द्रनाथ जैसे एक दृढ़चरित्र, परिश्रमी, प्रतिभासम्पन्न, उस काल के बी. ए. पास नवयुवक को इतने प्रयत्न के उपरान्त तीस रुपये महीने के वेतन की एक सामान्य नौकरी भी नहीं जुट सकी ! यह मानो एक अविश्वसनीय घटना है। इसका एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि जब ईश्वरी इच्छा से एक महान् प्रयोजन की पूर्ति के लिए नरेन्द्र को संन्यासी बनना था, तो संसार के सुख-स्वाच्छन्द्य एवं आत्मीय स्वजन की माया-ममता का पथ उनके लिए नहीं था। इसके अतिरिक्त जीवन-विकास के लिए संसार के दुःख-कष्टों के साथ प्रत्यक्ष परिचय होना भी आवश्यक था। दुःख-कष्टों में से ही मानों दुखियों के साथी भावी विवेकानन्द का जन्म हुआ। श्रीरामकृष्ण ने एक दिन कहा था – "जिस दिन नरेन्द्र दुःख-दैन्य के संस्पर्श में आएगा, उस दिन उसके चरित्र का यह प्रतीयमान अहंकार असीम करुणा में परिणत होगा।" और श्रीरामकृष्ण के शब्द अक्षरशः सत्य हुए। सांसारिक दुःख-कष्टों के दाह ने ही नरेन्द्रनाथ को विश्वप्रेमी विवेकानन्द में रूपान्तरित किया। इसीलिए वे दीन-दुखियों के इतने हमदर्द बन सके।



सैकड़ों प्रयत्न करने पर भी जब सांसारिक दुःख-कष्टों से छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं हुआ तब नरेन्द्रनाथ के मन में आया – "श्रीरामकृष्ण की प्रार्थना तो भगवान् सुनते हैं; यदि उन्होंने मेरी इस दशा से उबारने के लिए ईश्वर से प्रार्थना की तो अवश्य ही कोई उपाय निकल सकता है। फिर वे तो हम लोगों का कोई आग्रह भी नहीं टालते।"

इस विचार से नरेन्द्र एक दिन दक्षिणेश्वर आये और श्रीरामकृष्ण से आग्रह करने लगे – "आपको इसकी कोई न कोई व्यवस्था कर ही देनी होगी। अपनी माता से आप एक बार कहें, इससे हमारे सब कष्टों का अन्त हो जाएगा।" श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र से मन्दिर में जाकर माता के निकट प्रार्थना करने के लिए

कहा। लगातार तीन बार माता के समीप जाकर भी सांसारिक अभाव की बात वे कह नहीं सके – उन्होंने माँगा केवल विवेक-वैराग्य ही। तब श्रीरामकृष्ण बोले – "अच्छा जा। माँ से कहूँगा कि तुझे सादे अन्न-वस्त्र का कभी अभाव न हो।"

श्रीरामकृष्ण से यह आशीर्वाद प्राप्त होने के पश्चात् नरेन्द्रनाथ का सांसारिक अभाव कुछ अंश में दूर हुआ। उन्हें कुछ कुछ काम मिलने लगा। इधर श्रीरामकृष्णदेव उन्हें विभिन्न उपायों से धीरे धीरे साधना के अधिकाधिक उच्च स्तरों की ओर अग्रसर कराने लगे। विविध अतीन्द्रिय दिव्यानुभूतियों से गुजरते हुए नरेन्द्रनाथ का जीवन क्रमशः परम सत्य में प्रतिष्ठित हो गया। श्रीरामकृष्णदेव के जीवन में दिखाई देनेवाले विभिन्न आचरणों को समझने की अब उन्हें एक नवीन दृष्टि प्राप्त हुई।

एक दिन ईश्वरीय वार्ता के प्रसंग में श्रीरामकृष्ण ने भावावस्था में कहा – "जीव पर दया नहीं – शिवज्ञान से जीव की सेवा !"

सभी ने मन्त्रमुग्ध होकर यह दिव्यवाणी सुनी, परन्तु इस कथन में कितना गहरा सत्य निहित है यह एकमात्र नरेन्द्रनाथ ने ही अनुभव किया। बाद में उन्होंने कमरे से बाहर आकर कहा – "आज ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) की बातों में कैसा अपूर्व प्रकाश दिखाई दिया ! ठाकुर ने भावावस्था में जो कहा उसके द्वारा वन के वेदान्त को घर में लाया जा सकता है। मनुष्य अपने जीवन में प्रतिक्षण जिनके सम्पर्क में आ रहा है, जिन पर प्रेम कर रहा है, जिनके प्रति श्रद्धा-सम्मान निवेदित कर रहा है,, वे सभी ईश्वर के अंश हैं – स्वंय ईश्वर ही है। भगवान् ने यदि कभी अवसर दिया तो, आज जो सत्य सुना उसे संसार में सर्वत्र प्रचारित करूँगा – पण्डित-मूर्ख, धनी-निर्धन, ब्राह्मण-चण्डाल सभी को इसे सुनाकर मोहित करूँगा।"

और स्वामीजी ने वैसा ही किया। उन्होंने मानवजाति के सम्मुख धर्मराज्य का एक नया क्षितिज उद्घाटित कर दिया। मनुष्य के दैनन्दिन जीवन में धर्मसाधना का एक नया मार्ग प्रशस्त कर दिया। 'शिवज्ञान से जीवसेवा' – इस महामन्त्र में व्यष्टि-मुक्ति का बीज निहित है – साम्य, मैत्री, विश्वबन्धुत्व का बीज

छिपा हुआ है। स्पृश्य-अस्पृश्यों एवं समाज की विभिन्न जाति-उपजातियों के बीच, परस्पर विवदमान विभिन्न धर्मों या एक ही धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों अथवा मतवादों के बीच ऐक्य स्थापित करने का एकमात्र सहज उपाय है – मनुष्यमात्र की ईश्वरबुद्धि से सेवा – नर में नारायण-सेवा। मानव ही में भगवान का श्रेष्ठतम प्रकाश है – मानव की सेवा ही भगवान् की श्रेष्ठतम पूजा है। मानो करुणामय भगवान् रामकृष्णदेव के सर्वधर्मसमन्वयरूपी शास्त्र का यही प्रथम सूत्र है – 'शिवज्ञान से जीवसेवा'। स्वामी विवेकानन्द ने मानवजाति के चिरन्तन कल्याण के लिए समस्त संसार में इस सन्देश का प्रचार किया। इसके यथार्थ प्रयोग के फलस्वरूप विश्वशान्ति एवं मानवजाति का अशेष कल्याण अवश्य सम्भव होगा। स्वामीजी की 'सखा के प्रति' कविता की अन्तिम चार पंक्तियों में यह भाव बड़े सुन्दर रूप से व्यक्त हुआ है :

"ब्रह्म और परमाणु कीट तक, सब भूतों का है आधार
एक प्रेममय, प्रिय, इन सबके चरणों में दो तन-मन वार।।
बहुरूपों में खड़े तुम्हारे आगे, और कहाँ हैं ईश !
व्यर्थ खोज ! यह जीव-प्रेम की ही सेवा पाते जगदीश।।"*

दक्षिणेश्वर के मधुमय दिनों का अवसान हुआ। श्रीरामकृष्णदेव कण्ठरोग से आक्रान्त हो पहले श्यामपुकुर और फिर ११ दिसम्बर १८८५ को काशीपुर आये। श्यामपुकुर से ही नरेन्द्र ने स्वयं को श्रीरामकृष्ण की सेवा में नियुक्त कर दिया था।

काशीपुर का उद्यानगृह श्रीरामकृष्ण-संघ के इतिहास में गुरुसेवा, भगवद्-आराधना, तपस्या एवं संघ-गठन के विशिष्ट स्थान के रूप में चिरस्मरणीय रहेगा। यहीं पर श्रीरामकृष्ण ने कुमार वैरागियों को स्वहस्त से गेरुआ वस्त्र और जपमाला प्रदान करते हुए उनके अन्तर में आध्यात्मिक शक्ति संचारित की थी – उन्हें संन्यासव्रत में दीक्षित किया था।

उन दिनों नरेन्द्रनाथ ईश्वरलाभ के लिए तीव्र साधन-भजन में मग्न थे।

---

* मूल बँगला कविता 'सखार प्रति' का हिन्दी अनुवाद

उनके प्राणों की व्याकुलता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। वे समझ गये थे कि श्रीरामकृष्ण अब अधिक दिन नर-देह में नहीं रहेंगे। 'मैं परमसत्य में अभी तक प्रतिष्ठित नहीं हो सका' – इस विचार से वे आहार-निद्रा के प्रति उदासीन हो, गुरुसेवा के साथ ही साथ कठोर तपस्या में निमग्न हो गये। उनके मन में निर्विकल्प समाधि में स्थित होने की आकांक्षा अत्यन्त तीव्र हो उठी।

एक दिन उन्होंने श्रीरामकृष्ण के समीप अपने प्राणों की व्यथा व्यक्त करते हुए आवेग-भरे स्वर में कहा – "मुझे इच्छा होती है कि मैं शुकदेव की तरह लगातार पाँच-छह दिन तक समाधि में डूबा रहूँ। केवल देह की रक्षा के लिए थोड़ा-सा नीचे उतर आऊँ और पुनः समाधिमग्न हो जाऊँ।"

नरेन्द्र का आर्त आवेदन सुनते ही अकस्मात् श्रीरामकृष्ण में भावान्तर उपस्थित हुआ। वे तिरस्कारपूर्ण स्वर में बोल उठे – "छि, छि ! तू इतना बड़ा आधार। तेरे मुँह से ऐसी बात ! मैंने सोचा था, तू एक विशाल वटवृक्ष जैसा बनेगा, तेरी छाया में हजारों नर-नारियों को आश्रय मिलेगा; पर वैसा न होकर तू केवल स्वयं की ही मुक्ति चाहता है ?"

नरेन्द्रनाथ समझ गये कि श्रीरामकृष्ण का हृदय कितना विशाल हैं। उनका हृदय पश्चात्ताप से भर गया। तिरस्कृत से होकर वे चुपचाप आँसू बहाने लगे।

किन्तु नरेन्द्रनाथ की इस प्रार्थना को श्रीरामकृष्ण ने अपूर्ण नहीं रखा। इस घटना के कुछ ही दिन बाद ही एक दिन सन्ध्या के समय काशीपुर उद्यानगृह में नरेन्द्रनाथ ध्यान करने बैठे। धीरे धीरे उनका मन निर्विकल्प भूमि पर आरूढ़ हो गया। शरीर स्थाणुवत् स्थिर हो बाहर से मृतवत् दिखाई देने लगा। नरेन्द्रनाथ देहातीत सच्चिदानन्द-सत्ता में डूब गये। काफी समय बीत गया। वे निश्चल निःस्पन्द हो गम्भीर समाधि में मग्न रहे। नरेन्द्रनाथ की यह अवस्था देख एक गुरुभाई भय से व्यग्र हो श्रीरामकृष्ण के निकट जाकर बोल उठे, "नरेन मर गया !"

श्रीरामकृष्णदेव ऊपर के कमरे में थे। नीचेवाले कमरे में ही नरेन्द्रनाथ समाधिमग्न थे। श्रीरामकृष्ण तो सब जानते थे। उन्होंने कहा, "अच्छा ही हुआ।

उसी अवस्था में थोड़ी देर रहे। इसी के लिए तो मुझे कबसे तंग कर रहा था।''

काफी रात गये नरेन्द्र की समाधि भंग हुई। किन्तु मन तब भी देहभूमि पर उतर नहीं पा रहा था। उस अवस्था में नरेन्द्र कहने लगे, ''मेरी देह कहाँ है ?'' धीरे धीरे सहज अवस्था प्राप्त होने के पश्चात् वे उपर श्रीरामकृष्ण के कक्ष में गये। समाधि की अपूर्व शान्ति से उनका मन परिपूर्ण था। वे श्रीरामकृष्ण के सम्मुख जाकर सिर झुकाये खड़े रहे। उन्हें देखते ही श्रीरामकृष्ण गम्भीर स्वर में बोल उठे – ''क्यों रे, अब तो माँ ने तुझे सब कुछ दिखा दिया न ! जो कुछ देखा उसका मार्ग अब बन्द रहेगा। उसकी चाभी मेरे हाथ रही। अब तुझे माँ का कार्य करना पड़ेगा। माँ का कार्य समाप्त होने पर फिर वह अवस्था वापस मिलेगी।''

नरेन्द्र का चित्त अक्षय प्रशान्ति से परिपूर्ण था। वे अधोवदन हो नीरव खड़े रहे।

श्रीरामकृष्ण ने इस प्रकार मानो ताला लगाकर नरेन्द्र का समाधिपद रुद्ध रखा, तभी तो हम विश्वप्रेमिक, जीवदुःख-कातर, आर्त-पीड़ितों के त्राता विवेकानन्द को पा सके। स्मरण रहे कि श्रीरामकृष्ण ने ही सप्तर्षिमण्डल के इन ऋषि को ध्यानभूमि से इहलोक में खींच लाकर जगत्कल्याण के कार्य में नियोजित किया था। उन्हीं को यन्त्र बनाकर अपने युगधर्म का सम्यक् रूप से प्रचार किया था।

देह की व्याधि का सहारा लेकर श्रीरामकृष्ण ने त्यागी शिष्यों को संघबद्ध किया और नरेन्द्र को उनका नेता बनाया। उनका उद्देश्य था कि इन युवकों के द्वारा उनका साम्य-मैत्री, प्रेम-विश्वबन्धुत्व, त्याग-तपस्या-ईश्वरपरायणता एवं महासमन्वय का युगसन्देश सम्पूर्ण विश्व के हर नर-नारी तक पहुँच जाए।

□□□

६. श्रीरामकृष्ण की महासमाधि

श्रीरामकृष्णदेव अब अपनी नरलीला का संवरण करने के लिए तैयार हो रहे थे। इस समय वे नरेन्द्र को बिलकुल दूर नहीं जाने देते, सदा पास बैठाकर जीवकल्याणरूपी कार्य के सम्बन्ध में गूढ आदेश-उपदेश देते और एकान्त में कितनी ही चर्चाएँ करते। नरेन्द्र पर वे अपने असमाप्त कार्य का भार सौंपने जा रहे थे।

एक दिन श्रीरामकृष्ण ने एक कागज के टुकड़े पर लिखा – 'नरेन्द्र लोकशिक्षा देगा।' नरेन्द्र को उन्होंने इस प्रकार अधिकार प्रदान किया। नरेन्द्र ने थोड़ा हिचकते हुए कहा, "मुझसे वह सब नहीं होगा।" श्रीरामकृष्ण ने तत्क्षण दृढ़ स्वर में उत्तर दिया, "तेरी हड्डियों से होगा।" श्रीरामकृष्ण ही नरेन्द्र के अन्तर में 'बहुजनहित' की शुभकामना जागृत कर उनके मन को जीवभूमि पर उतार लाये थे और मानो उनकी गरदन पकड़कर जबरन काम करा लेना चाहते थे। विश्वास-अविश्वास, नाना प्रकार के दुःख-कष्ट और संघातों के भीतर से ले जाते हुए श्रीरामकृष्ण ने अपने हाथों नरेन्द्र को विवेकानन्द के रूप में गढ़ा था। विवेकानन्द श्रीरामकृष्ण की अमोघ इच्छाशक्ति के यन्त्रस्वरूप थे। विश्ववासियों के समीप उन्होंने वेदमूर्ति रामकृष्ण के सन्देश का ही प्रचार किया।

श्रीरामकृष्ण किसी विशिष्ट देश, जाति या धर्म के लिए नहीं आये थे, वे आये थे सनातन वैदिक धर्म की नवीनतम अभिव्यक्ति के रूप में – विश्वधर्म के प्रतीक के रूप में। इस परम सत्य को संसार के समक्ष प्रकट करना आवश्यक था। स्वामी विवेकानन्द ने उसे पूरा किया।

श्री अरविन्द ने एक स्थान पर लिखा है – "जो पूर्ण थे, जो युगप्रवर्तक थे, जो अवतारों के समष्टिस्वरूप थे, ... उन्होंने भावी भारत के प्रतिनिधि को अपने सम्मुख बिठाकर गठित किया। भावी भारत के ये प्रतिनिधि हैं स्वामी विवेकानन्द। ... विवेकानन्द का देश-प्रेम, उनके पूजनीय गुरुदेव का ही दान है।

श्रीरामकृष्ण जानते थे कि वे उनके भीतर जिस शक्ति का संचार किये जा रहे हैं, कालक्रम से उसकी विकसित छटा से प्रखर सूर्य की रश्मिपुंज की भाँति समस्त देश जगमगा उठेगा।"

लीला-संवरण के तीन-चार दिन पहले एक दिन सन्ध्या के समय श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र को पास बुलाया। कमरे में उस समय दूसरा कोई नहीं था। दरवाजा बन्द कर लिया गया। नरेन्द्र को अपने सामने बैठाकर उनके नेत्रों पर दृष्टि निबद्ध रखते हुए श्रीरामकृष्ण धीरे धीरे समाधिमग्न हो गये। इसके बाद नरेन्द्र ने अनुभव किया – श्रीरामकृष्ण की देह में से विद्युत् की सी एक शक्ति निकलकर उनकी देह में प्रविष्ट हो रही है। धीरे धीरे वे भी समाधिमग्न हो गये। इस प्रकार श्रीरामकृष्णदेव ने नरेन्द्रनाथ के भीतर आध्यात्मिक शक्ति का संक्रमण कर दिया।



श्रीरामकृष्णदेव की महासमाधि को अब दो ही दिन बचे थे। उनकी व्याधि बहुत ही बढ़ गयी थी। ऐसे समय नरेन्द्र के मन में आया – 'इस समय यदि ये कह सकें कि मैं भगवान् हूँ, तो मैं विश्वास करूँ।' और आश्चर्य यह कि नरेन्द्र के मन में इस विचार के उदित होते ही श्रीरामकृष्ण उनकी ओर देखते हुए सहज स्वर में बोल उठे – "अभी भी तुझमें अविश्वास है ! ... सच कह रहा हूँ – जो राम था, जो कृष्ण था, वही इस समय इस शरीर में रामकृष्ण बना है – पर हाँ, तेरे वेदान्त की दृष्टि से नहीं।" नरेन्द्र पर मानो वज्रपात हुआ। वे स्तम्भित रह गये। श्रीरामकृष्ण पर सन्देह करने के कारण उन्हें विशेष पश्चात्ताप हुआ और हृदय की वेदना से वे रो पड़े। श्रीरामकृष्ण कौन हैं तथा क्यों आये हैं इसका मर्म उनके हृदयपटल पर अब उज्ज्वल ज्योतिर्मय अक्षरों में सदैव के लिए अंकित हो गया।

१५ अगस्त १८८६ को 'झूलन' पूर्णिमा थी। उस दिन रात को १ बजकर ६ मिनिट पर तीन बार 'काली' का नाम उच्चारण करते हुए श्रीरामकृष्ण समाधि में मग्न हुए। यही समाधि उनकी महासमाधि में परिणत हुई। श्रीरामकृष्ण देह त्यागकर स्व-स्वरूप में लीन हो गये।

□□□

७. नरेन्द्र से विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण को केन्द्रित कर नरेन्द्रनाथ आदि युवाभक्त काशीपुर में एकत्र हुए थे। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें त्यागमन्त्र में दीक्षित किया था। श्रीरामकृष्ण के जिन शिष्यों ने आगे चलकर संन्यास ग्रहण किया वे संख्या में सोलह थे। उनके नाम इस प्रकार हैं : नरेन्द्र (विवेकानन्द), राखाल (ब्रह्मानन्द), योगीन (योगानन्द), बाबूराम (प्रेमानन्द), निरंजन (निरंजनानन्द), तारक (शिवानन्द), शरत् (सारदानन्द), शशी (रामकृष्णानन्द), काली (अभेदानन्द), लाटू (अद्भुतानन्द), हरिनाथ (तुरीयानन्द), गोपाल (अद्वैतानन्द), सारदा (त्रिगुणातीतानन्द), गंगाधर (अखण्डानन्द), सुबोध (सुबोधानन्द) तथा हरिप्रसन्न (विज्ञानानन्द)।

श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के पश्चात् नरेन्द्रनाथ ने अपने गुरुभ्राता तारकनाथ की सहायता से कलकत्ता के निकट वराहनगर के एक 'भुतहे' मकान में मठ स्थापित किया। यथाक्रम वहाँ श्रीरामकृष्णदेव की व्यवहृत वस्तुएँ और उनकी भस्मास्थि लायी गयी और कुछ त्यागी भक्त आकर वहीं रहने लगे। नित्य पूजापाठ, ध्यान-भजन-कीर्तन, शास्त्र-अध्ययन आदि चलने लगा। गृही भक्त भी आने-जाने लगे। इस प्रकार श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के डेढ़ महीने के भीतर ही उन्हीं के विशेष निर्देशानुसार वराहनगर का मठ स्थापित हुआ। आज समस्त संसार में १६० स्थायी केन्द्र और लगभग ५० उपकेन्द्र स्थापित कर श्रीरामकृष्ण-संघ जो बहुजन-हितकर कार्य परिचालित कर रहा है उसका शुभारम्भ वराहनगर मठ को केन्द्र बना कर ही हुआ था। क्रमशः एक एक कर प्रायः सभी त्यागी भक्तों ने वराहनगर मठ में योगदान किया।

सन् १८८७ ई. जनवरी में नरेन्द्र आदि युवक-भक्तों ने आनुष्ठानिक रीति से विधिवत् विरजाहोम करके संन्यास ग्रहण किया। नरेन्द्रनाथ ने उस समय

कौन-सा नाम ग्रहण किया था इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता। किसी किसी के मतानुसार उन्होंने विविदिषानन्द अथवा सच्चिदानन्द नाम ग्रहण किया था। अमेरिका जाते समय उन्होंने विवेकानन्द नाम ग्रहण किया।

त्याग, तपस्या एवं कठोरता से पूर्ण वराहनगर मठ का जीवन रामकृष्ण-संघ के इतिहास का एक उज्ज्वल अध्याय है। उस समय वहाँ भोजन आदि की कोई स्थायी व्यवस्था न थी। उन जैसे नवयुवकों को कोई आसानी से भिक्षा भी नहीं देता। इसलिए हर दिन भर-पेट भोजन भी नहीं मिल पाता। आगे चलकर स्वामी विवेकानन्द किस्सा सुनाते हुए कहते थे – "वराहनगर में ऐसे दिन बीते हैं जब खाने के लिए कुछ भी नहीं रहता। ... कुछ दिन तक नमक और भात ही चलता। पर उस ओर किसी का ध्यान भी नहीं था। उस समय हम जप-ध्यानादि के प्रबल प्रवाह में उतरा रहे थे। अहा ! कैसे विलक्षण दिन थे वे ! वह कठोरता देखने पर भूत भी भाग जाते – मनुष्यों की तो बात ही क्या !"

सन् १८८६ के अन्तिम भाग से सन् १८९२ के प्रारम्भ तक वराहनगर मठ का यह 'भुतहा' मकान इन नवीन तपस्वियों की साधना का स्थान बना रहा। श्रीरामकृष्ण का त्याग-वैराग्य, उनकी पवित्रता, उनकी ईश्वरप्राप्ति के लिए तीव्र व्याकुलता तथा सदा भगवत्तन्मयता इन सभी के प्राणों में नयी प्रेरणा जगाया करती थी।

वराहनगर मठ को क्रमश: एक स्थायी रूप लेते देखकर स्वामीजी ने कुछ निश्चिन्तता की साँस ली। उनके गुरुभाई अब तीर्थपर्यटन को जाने लगे। स्वामीजी को भी अपने अन्तर से विवेक का आह्वान सुनाई दे रहा था। वे जान गये थे कि समस्त विश्व में उथल-पुथल मचा देनेवाली एक विराट् घटना उनकी प्रतीक्षा कर रही है। श्रीरामकृष्ण ने जिस कार्य का निर्देश दिया था उसके सार्थक रूपायण के लिए वे गम्भीर रूप से विचार करने में मग्न हो गये।



पहले कुछ दिन के लिए स्वामीजी वैद्यनाथ और सिमला आदि स्थानों में

भ्रमण करने गये। फिर वहाँ से वराहनगर लौट आये। सन् १८८८ में वे पुनः अकस्मात् निकल पड़े और सम्बलरहित, दण्ड-कमण्डलुधारी परिव्राजक संन्यासी के वेश में वाराणसी, अयोध्या, लखनऊ, आगरा, वृन्दावन, हाथरस होते हुए हिमालय की तलहटी में स्थित हरिद्वार, ऋषिकेश तक चले गये। किन्तु शरीर की अस्वस्थता तथा गुरुभाइयों के विशेष अनुरोध पर कुछ समय बाद उन्हें वराहनगर मठ लौट आना पड़ा। भारत में और उसके आधार पर सारे विश्व में एकत्व-साधना ही श्रीरामकृष्ण के आविर्भाव तथा समन्वयपूर्ण जीवन का उद्देश्य था। केवल धर्म के ही क्षेत्र में नहीं, अपितु सामाजिक एवं राष्ट्रीय क्षेत्रों में भी इसी आदर्श के आधार पर विश्वमानवता, विश्वबन्धुत्व और विश्वप्रेम का उदय होना सम्भव है। यह आदर्श कैसे कार्यान्वित हो – यही स्वामीजी के चिन्तन का एकमात्र विषय था।

उत्तर भारत में कुछ भागों का पर्यटन करते समय उनके सम्मुख प्राचीन, वर्तमान तथा भावी भारत का चित्र उज्ज्वल रूप से झलमला उठा तथा साथ ही उनकी निर्भ्रान्त दृष्टि कें सामने विश्वमानवता का एक नया रूप प्रकट हुआ। उनके अन्तर में मानो जाग्रत हो उठा वही सनातन वैदिक भारत; पुराण, इतिहास एवं किम्वदन्तियों की अगणित महिमा से मण्डित देवी-देवताओं का भारत; साम्य, मैत्री और स्वाधीनता का सन्देश सुनानेवाली सभ्यता की आधारशिला पर प्रतिष्ठित, आर्य-द्रविड़ आदि अनेक सभ्यताओं की मिलनभूमि भारत; प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक जाति-वर्ण-धर्मनिरपेक्ष रूप से सभी देशों के लोगों को अभय-आश्रय देते हुए अपने हृदय में बसा लेनेवाला भारत; विश्वमानवता की जन्मभूमि भारत। स्वामीजी ने वराहनगर मठ में लौटकर अपने गुरुभाइयों को अपनी भावधारा का सहभागी बनाया।



कुछ समय वराहनगर मठ में निवास करने के पश्चात् सन् १८९० की जुलाई में स्वामीजी ने पुनः हिमालय की यात्रा की। साथ में पथप्रदर्शक के रूप में

उनके गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्द थे, जो तिब्बत तथा हिमालय-भ्रमण के अनुभवी थे। पहले वे भागलपुर, वैद्यनाथ और काशी गये। तरुण भास्कर के समान वे कहीं भी स्वयं को छिपा नहीं सके। जिस किसी ने क्षण भर के लिए भी उनके साथ वार्तालाप किया, वही उनके भीतर निहित महाशक्ति का परिचय पाकर मुग्ध हो उठा। वे केवल गैरिक वस्त्रधारी, मुण्डित-मस्तक यति ही नहीं थे, वे तो भस्माच्छादित अग्नि थे। उनके नेत्रों में प्रतिभा का जो तेज झलकता था, उसे वे किसी प्रकार ढक नहीं सकते थे। यथाक्रम उन्होंने नैनीताल, अल्मोडा, ऋषिकेश, कनखल, सहारनपुर, मेरठ आदि स्थानों पर गुरुभाइयों के साथ कठोर तपस्या में कालयापन किया। इस समय उन्होंने अपने भीतर एक महाशक्ति के स्फुरण का अनुभव किया और उन्हें अपने जीवन के महान् कर्तव्य के सम्बन्ध में संकेत मिला। अपने संकल्प में दृढ़ हो उन्होंने एक दिन अपने साथ के गुरुभाइयों को बुलाकर कहा – "मेरे जीवन का व्रत स्थिर हो चुका है। अब से मुझे निःसंग रहना होगा। तुम लोग मेरा साथ छोड़ दो। मेरे साथ एकमात्र भगवान् ही रहेंगे।"

गुरुभाइयों का कोई अनुरोध उन्होंने नहीं सुना। सन् १८९१, जनवरी के अन्तिम भाग में वे एकाकी परिव्राजक के रूप में निकल पड़े। भारत के विशाल जनसमुद्र में वे विलीन हो गये। अन्य सैकड़ों गेरुआधारी संन्यासियों की तरह वे भी एक संन्यासी मात्र थे। दो वर्ष से भी अधिक काल तक वे इसी प्रकार भ्रमण करते रहे। भारतभूमि के धूलिकणों में उनके पदचिह्न विलीन होते गये। वे कभी ग्राम में, कभी नगर में, कभी धनिक के भवन में, कभी दीन की कुटीर में, कभी वृक्षतल में, कभी देवल में, कभी उच्चवर्ण ब्राह्मण के सम्मानित अतिथि के रूप में, कभी अस्पृश्यों को धन्य करते हुए उनके सुखदुःख के सहभागी के रूप में, फिर कभी राजा-महाराजाओं के प्रासाद में मान्यवर संन्यासी गुरु के रूप में उच्च आसन पर विराजमान होते रहे। राजागण उनकी चरणसेवा करते। राजाओं के भोगविलास-प्रमत्त हृदय में वे ज्ञानलोक की बाती जलाते – संसार के अनित्यत्व का बोध, भूमानन्द में प्रतिष्ठित होने की अदम्य आकांक्षा जागृत करते। उनके सुप्त हृदयों में जनता-जनार्दन की सेवा की चेतना जगाते। फिर हम उन्हें पाते हैं

— आर्त-पीड़ितजनों के मित्र रूप में — वेदनापूर्ण प्राणों से उनकी सेवा में निमग्न। जैसे जैसे दिन बीतते गये वैसे वैसे उनके हृदय में इस महान् भारतभूमि का वास्तविक रूप स्पष्टतया उद्भासित होने लगा। उन्होंने देखा — भारत में मानव के भीतर भगवान् किस तरह क्षोभ और क्लेश से व्यथित बने हुए हैं, भारतीय जनता के करुण आर्तनाद से वे कैसे व्याकुल हो उठे हैं !

❑❑❑

८. परिव्रज्या तथा नरनारायण-सेवा

मेरठ से स्वामीजी दिल्ली आये। वहाँ से अलवर होते हुए जयपुर जाकर दो सप्ताह रहे। इस समय उन्होंने एक प्रसिद्ध वैयाकरण के पास पाणिनी की अष्टाध्यायी का अध्ययन किया। जयपुर और उसके आसपास सर्वत्र जनसाधारण की निर्धन और असहाय दशा देखकर स्वामीजी का हृदय वेदना से भर उठा। देश के मेरुदण्डस्वरूप, राष्ट्र के प्राणस्वरूप, भारत के भविष्यरूप इन दीन जन-नारायणों की शोचनीय परिस्थिति को सुधारने की दिशा में वे राजाओं और राजकर्मचारियों को प्रोत्साहित करने लगे। उनमें चेतना जागृत करने के लिए वे नवयुवकों को प्रेरणा देने लगे। दलित और पीड़ित जनता के सम्पर्क में वे जितने घनिष्ठ रूप से आने लगे, उनके अन्तर में जनसेवा का व्रत उतना ही सुस्पष्ट आकार धारण करने लगा। मानव की पीड़ा और व्यथा को केन्द्रित करके ही उनकी समस्त शक्ति एवं चेष्टा नरनारायण की सेवा में लगी थी। उन्होंने कहा था – "मैं एक ऐसा धर्म चाहता हूँ जो हममें आत्मविश्वास और राष्ट्रीय स्वाभिमान का बोध जगा दे तथा हममें दीन-दु:खियों को अन्न और शिक्षा देने की तथा हमारे चारों ओर फैले समस्त दु:ख-कष्टों को दूर करने की शक्ति भर दे। यदि ईश्वरलाभ करना चाहते हो तो पहले मनुष्य की सेवा करो।"

जनसेवा के व्रत में उन्होंने अपने हृदय की सारी शक्ति उड़ेल दी। समस्त विश्व के दीन-दुखियों का हृदयभेदी आर्तनाद उनके अन्तर में प्रतिध्वनित हो उठता। इसीलिए उन्होंने सर्वत्र 'नररूपी नारायण की सेवा' का मन्त्र सुनाया। भारत के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त तक सभी लोगों को नरनारायण-सेवाव्रत के सन्देश से अनुप्राणित किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्राणों में स्वामीजी के इस सन्देश ने विलक्षण झंकार उठायी थी। वे लिखते हैं – "विवेकानन्द ने कहा था – दरिद्र-नारायणों के माध्यम से परमात्मा हमारी सेवा ग्रहण करना चाहते हैं।

इसे कहते हैं सन्देश ! इस सन्देश ने स्वार्थबोध के परे मनुष्य के आत्मबोध को असीम मुक्ति का मार्ग दिखाया। यह किसी आचारविशेष का उपदेश नहीं है। यह कोई व्यवहारोपयोगी संकीर्ण अनुशासन नहीं है। छुआछूत का निषेध इसमें अपने आप आ जाता है – इसलिए नहीं कि उसके द्वारा राष्ट्र के स्वतन्त्र होने का सुयोग है, बल्कि इसलिए कि उसके द्वारा मनुष्य का अपमान दूर होगा। वह अपमान हममें से प्रत्येक पर लांछन है। विवेकानन्द का यह सन्देश सम्पूर्ण मानवजाति के लिए उद्बोधक है और इसलिए वह हमारे युवकों को कर्म के माध्यम से मुक्ति के विभिन्न मार्गों की ओर प्रवृत्त कर रहा है।"

व्यावहारिक क्षेत्र तथा दैनन्दिन जीवन में स्वामीजी के इस सन्देश को उतारने में ही विश्व-एकत्व एवं विपुल सम्भावनापूर्ण विश्व-बन्धुत्व का बीज निहित है। इसी मन्त्र के बल पर उन्होंने भावी भारत का आह्वान किया था।

भारत की आम जनता की दुर्गति देखकर उनका हृदय अत्यन्त भाराक्रान्त हो गया था। केवल भारत ही नहीं, सभी देशों की सभी जातियों के लिए उनके प्राण रोया करते थे। उनके विशाल हृदय में किसी प्रकार की भौगोलिक सीमा नहीं थी। उन्होंने कहा था, "भगवान् को किधर ढूँढ़ते फिर रहे हो ? क्या दीन, आर्त, घृणित, अस्पृश्य – ये ही तुम्हारे देवता नहीं हैं ? पहले इन्हीं की पूजा क्यों नहीं करते ? ... वेदान्त की जन्मभूमि भारतवर्ष में साधारण जनता युग युग से उपेक्षित होती आयी है। उनका स्पर्श अशुचि है, उनका संग अपवित्र है। निराशा के अन्धकार में उनका जन्म होता है, उसी में उनकी निरन्तर स्थिति है। ... याद रखो, निर्धन की कुटिया में ही भारतीय राष्ट्र बसता है। किन्तु हाय ! उनके लिए अब तक किसी ने कुछ नहीं किया। ... भारत के उपेक्षित किसान, जुलाहे, चमार, झाड़ूदार आदि निम्न श्रेणी के लोग विजेताओं के उत्पीड़न तथा स्वदेशवासियों की अवज्ञा के बावजूद स्मरणातीत काल से नीरव रहकर काम करते आ रहे हैं; इसके लिए उन्होंने कभी उपयुक्त पारिश्रमिक तक नहीं पाया।"

☆ ☆ ☆

निःसम्बल, दण्ड-कमण्डलुधारी परिव्राजक के वेश में स्वामीजी चलते गये। उन्होंने आबू पर्वत के रमणीक वातावरण के बीच तेरहवीं शताब्दी में आठ करोड़ रुपयों से निर्मित अनुपम बेलबूटों से सुशोभित जैनमन्दिर आदि का दर्शन किया। आबू में रहते समय स्वामीजी का खेतड़ी के महाराजा से परिचय हुआ। महाराजा के विशेष आग्रह पर स्वामीजी उनके साथ खेतड़ी आये और कुछ दिन वहाँ निवास किया।

स्वामीजी केवल राजप्रसाद में ही नहीं रहे। वे प्रजा के सुख-दुःख के भी सहभागी हुए। राजपूताना के विभिन्न स्थानों में भ्रमण करते समय ही वे दीन-दुखियों की हृदयद्रावक शोचनीय दशा के साथ विशेष रूप से परिचित हुए। उन्होंने इसके प्रतिकार की चेष्टा भी की। उन्होंने राजा-महाराजाओं के हृदय में जनसेवा का भाव जगाया। स्वामीजी के उपदेशों से अनुप्राणित हो खेतड़ी-नरेश ने अपने राज्य में जनता के उन्नयन के लिए विविध प्रकार की व्यवस्था की। राजाओं के हाथ में शक्ति थी, धन था। इसीलिए स्वामीजी उनसे मिलकर उनके मन में परिवर्तन लाना चाहते थे। वे जहाँ कहीं गये, वहीं उन्होंने धनिकों के समीप निर्धनों के कल्याण के लिए आवेदन किया। परन्तु वे यह भी समझ चुके थे कि केवल दो-एक राजा-महाराजाओं की दानशीलता और सदिच्छा से भारत के व्यापक दुःख-दैन्य में केवल मामूली-सा ही सुधार हो सकता है। स्वामीजी की पाश्चात्त्य देश जाने की कल्पना के पीछे कुछ अंश में भारत के इस दुःखमोचन का भी हेतु था। उन्होंने कहा था – "मैंने समूचे भारत का भ्रमण किया। ... सर्वत्र ही आम जनता का भयावह दुःख-दैन्य मैंने अपनी आँखों से देखा। वह सब देखकर मैं व्याकुल हो उठा हूँ। मेरी आँखों के आँसू रोके नहीं रुकते। ... इसी कारण, जनसाधारण की मुक्ति का कोई उपाय ढूँढ़ निकालने के लिए मैं अब अमेरिका जा रहा हूँ।"

खेतड़ीनरेश के आग्रहपूर्ण प्रार्थना करने पर भी स्वामीजी खेतड़ी छोड़कर गुजरात चले गये। अहमदाबाद, लिमड़ी, जूनागढ़, गिरनार, भुज, वेरावल और सोमनाथपत्तन (प्रभास) होते हुए वे पोरबन्दर (सुदामापुरी) पहुँचे।

पोरबन्दर के महाराजा के साथ स्वामीजी का परिचय इतना घनिष्ठ हुआ कि स्वामीजी ने लगभग आठ-नौ महीने राजप्रासाद में ही निवास किया। इस दीर्घकाल निवास का विशेष कारण भी था। राजा के सभापण्डित शंकर पाण्डुरंग असामान्य विद्वान् थे। वे उस समय वेदों का अनुवाद कर रहे थे। उनके अनुरोध पर स्वामीजी उन्हें अनुवाद कार्य में सहायता किया करते थे एवं उनसे पजंतलि के महाभाष्य का अध्ययन करते थे। इतना ही नहीं, उस समय उन्होंने पण्डितजी से फ्रेंच भाषा भी सीखी।

वेदों का अनुवाद करने के प्रसंग में स्वामीजी की अपूर्व धारणाशक्ति एवं प्रतिभा का परिचय पाकर एक दिन पण्डितजी ने कहा, "स्वामीजी, आपकी प्रतिभा और शक्ति का समुचित आदर करनेवाला इस देश में विरला ही कोई मिलेगा। मुझे लगता है, फिलहाल भारत आपके लिए उपयुक्त क्षेत्र नहीं है। आप पाश्चात्य देशों में जाइए और उन्हें जीतकर लौटिए।" इस पर कुछ देर मौन रहकर स्वामीजी ने कहा, "पण्डितजी, एक दिन प्रभास में समुद्र के किनारे खड़े खड़े दूर क्षितिज की ओर निहारता हुआ तरंगमालाओं का अनुपम खेल देख रहा था। एकाएक मेरे मन में आया कि इन क्षुब्ध तरंगमालाओं को लाँघकर मुझे किसी सुदूर देश में जाना होगा। किन्तु समझ में नहीं आता कि यह कैसे सम्भव होगा।

पोरबन्दर से स्वामीजी द्वारका आये। फिर उन्होंने माण्डवी, नारायणसरोवर, आशापुरी तथा पालीताना के शत्रुंजय पर्वत आदि देखे। तत्पश्चात् वे बड़ौदा होकर खंडवा आये। शिकागो की विश्वधर्मपरिषद के विषय में सुनकर उस सम्मेलन में भाग लेने की इच्छा उनके मन में पहले पहल खंडवा ही में उत्पन्न हुई। और जैसा आगे चलकर हम देखेंगे कि इस धर्ममहासभा के लिए स्वामीजी मानो पहले से ही विधाता द्वारा चिह्नित कर दिये गये थे।

भ्रमणकाल के ये दिन स्वामीजी के लिए महान् शिक्षा के अवसर थे। इस समय उन्होंने खूब सीखा, खूब ग्रहण किया। गोताखोर की तरह भारतरूपी रत्नाकर से अमूल्य रत्नों का आहरण किया। धर्मभूमि भारत में जो विचारधन चारों और बिखरा हुआ था उसका उन्होंने संग्रह किया। सभी धर्मों में उन्हें शाश्वत

एकत्व दीख पड़ा। विभिन्न धर्मों के मूल उद्‌गम का भी उन्हें पता मिला। समाजस्रोत की कीचभरी रुद्ध अवस्था को देखकर उनके प्राण वेदना से आकुल हो उठे। इस रुद्ध प्रवाह को गतिशील एवं निर्मल बनाने का मार्ग भी उनके हृदय में रूपायित हुआ। सर्वोपरि देशवासियों का दैन्य और अज्ञान देख उनका हृदय व्याकुल हो उठा। श्रीरामकृष्ण जो कहा करते थे कि 'खाली पेट धर्म नहीं होता' इस कथन की सत्यता का उन्होंने प्राणों ही प्राणों में अनुभव किया। इसका प्रतिकार कैसे हो, इस चिन्ता ने उनके अन्तर में मानो अग्नि प्रज्वलित कर दी। दिन-रात वही एक चिन्ता उन पर सवार रहती। क्षण भर के लिए भी वे स्वयं को इससे मुक्त नहीं कर पाते। नींद के समय भी वे ही चिन्ताएँ उनके हृदय में जाग्रत रहतीं।



खंडवा से स्वामीजी बम्बई होते हुए पूना गये। पूना जाते समय गाड़ी में एक विलक्षण घटना घटी, जिससे स्वामीजी के विराट् व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। गाड़ी में स्वामीजी को द्वितीय क्षेणी से भ्रमण क़रते देखकर उसी डिब्बे में बैठे कुछ महाराष्ट्रीय शिक्षित लोग अंग्रेजी भाषा में संन्यासियों की निन्दा करने लगे। उन्होंने सोचा था कि स्वामीजी अंग्रेजी नहीं जानते। उनका कहना यह था कि भारत के अध:पतन के लिए एकमात्र संन्यासी-सम्प्रदाय ही उत्तरदायी है। उन्होंने जोंक की तरह समाजवृक्ष की शक्ति का शोषण कर उसे मृतप्राय बना डाला है, आदि आदि। उस डिब्बे में लोकमान्य तिलक भी थे, किन्तु उन्होंने सहयात्रियों के मत का समर्थन नहीं किया।

चर्चा जब पराकाष्ठा पर पहुँच गयी तब स्वामीजी चुप नहीं रह सके। वे बोल उठे, "युग युग से संन्यासियों ने ही तो संसार की आध्यात्मिक भावधारा को सतेज और अक्षुण्ण बना रखा है। बुद्ध क्या थे, शंकराचार्य क्या थे ? उनकी आध्यात्मिक देन को क्या भारत अस्वीकार कर सकता है ?" स्वामीजी के मुख से धर्म का क्रमविकास, देश-विदेश के धर्मों की प्रगति का इतिहास तथा अनेक

गम्भीर दार्शनिक तत्त्व आदि के विषय में सुनकर सहयात्रियों को विवश होकर हथियार डाल देना पड़ा। तदुपरान्त तिलक सस्नेह आग्रहपूर्वक स्वामीजी को अपने मकान पर ले गये और लगभग एक मास तक उन्हें अपने साथ रखा। स्वामीजी का देशप्रेम, दीन-दुखियों के प्रति उनकी सहानुभूति आदि ने तिलक के हृदय पर गहरा प्रभाव डाला।

क्रमशः कोल्हापुर, बेलगाँव, मरमागोआ आदि होते हुए स्वामीजी मैसूर आये और वहाँ के राजमहल में अतिथि के रूप में ठहरे।

स्वामीजी के विराट् व्यक्तित्व के संस्पर्श में आकर महाराजा बड़े प्रभावित हुए एवं उन पर गुरु की तरह श्रद्धा करने लगे। एक दिन उन्होंने कहा, "स्वामीजी मैं आपकी पादपूजा करूँगा।" परन्तु स्वामीजी किसी प्रकार राजी नहीं हुए। उन्होंने अनेक मूल्यवान् वस्तूएँ भेंट देनी चाही, किन्तु स्वामीजी ने कुछ भी ग्रहण नहीं किया। महाराजा ने स्वामीजी से उनकी व्यक्तिगत सेवा करने की प्रार्थना की। इस पर स्वामीजी ने कहा, "दीन-दुःखियों की सेवा ही मेरी सेवा है।" राजमहल में एक दिन पण्डितों की एक विराट् सभा आयोजित की गयी। पण्डितों का भाषण समाप्त होने के पश्चात् स्वामीजी से भी कुछ बोलने का अनुरोध किया गया। स्वामीजी ने संस्कृत में सार्वभौम वेदान्त के सम्बन्ध में ऐसा हृदयस्पर्शी भाषण दिया कि चारों ओर से 'धन्य ! धन्य !' की ध्वनि उठने लगी।



मैसूर से कोचीन और त्रिवेन्द्रम होते हुए स्वामीजी रामेश्वर की ओर बढ़े। मदुरा में उनकी रामनाद के राजा भास्कर सेतुपति से भेंट हुई। ये उच्च शिक्षा प्राप्त राजा स्वामीजी के प्रति इतने श्रद्धासम्पन्न हुए कि थोड़े ही दिनों में उन्होंने स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। परन्तु स्वामीजी राजसम्मान का लाभ उठाने के लिए नहीं आये थे। उन्होंने भारत की वर्तमान समस्याओं तथा उनके समाधान की ओर राजा की दृष्टि आकर्षित की।

रामेश्वर-दर्शन के पश्चात् स्वामीजी भारत की अन्तिम सीमा पर स्थित

कन्याकुमारी के मन्दिर में आये। देवी को साष्टांग प्रणिपात करते हुए उन्होंने कहा, "माँ ! मैं मुक्ति नहीं चाहता। तुम्हारी सेवा ही मेरे जीवन का एकमात्र व्रत है।" समुद्रगर्भ में स्थित एक शिलाखण्ड पर बैठकर वे गहन ध्यान में मग्न हो गये। इस ध्यान में उन्हें एक नया प्रकाश दिखाई दिया, पथ का पता मिला। उन्होंने अपने अन्तर में श्रीरामकृष्ण का कण्ठस्वर सुना। तब उन्होंने लाखों दुःखी भारतवासियों के प्रतिनिधि के रूप में पाश्चात्य देशों में जाने का संकल्प किया, क्योंकि वहाँ जाकर उन्हें भारत के प्रति पाश्चात्य लोगों की दृष्टि आकर्षित करनी थी, विश्वबन्धुत्व का सन्देश प्रचारित करना था, निद्रित मानवात्मा को प्रबोधित करना था, भारत के दुःख-दैन्य के अवसान के लिए प्रयत्न करना था।

कन्याकुमारी से स्वामीजी पाण्डीचेरी आये। यहाँ थोड़े ही समय में कुछ शिक्षित युवक उनके प्रति विशेष रूप से आकृष्ट हुए। वहाँ के एक विशिष्ट ब्राह्मण के साथ समुद्रयात्रा तथा समस्त विश्व में वैदिक धर्म के प्रचार के सम्बन्ध में स्वामीजी की विनोदपूर्ण चर्चा हुई। ब्राह्मण के संकीर्ण विचारों को सुनकर स्वामीजी को बड़ा मजा आया। उन्होंने साथ के युवकों की ओर उन्मुख होकर कहा, "देखा न, हिन्दूधर्म कहाँ आ पहुँचा है ! सनातन वैदिक धर्म को अब व्यक्तिविशेष या सम्प्रदायविशेष के संकीर्ण घेरे से मुक्त करके विश्व के खुले विस्तीर्ण प्रांगण में स्थापित करना होगा। हर शिक्षित युवक के ऊपर इसका गुरु उत्तरदायित्व है।"

भारत के राष्ट्रीय जीवन में जो वर्तमान अवनति दिखाई देती है उसके कारण के सम्बन्ध में स्वामीजी की अनेक उक्तियाँ पायी जाती हैं। उन्होंने कहा है – "जिस दिन 'म्लेच्छ' शब्द का आविष्कार हुआ एवं विभिन्न जातियों के बीच परस्पर आदान-प्रदान बन्द हुआ, उसी दिन से भारत का दुर्भाग्य प्रारम्भ हुआ।" एक अन्य स्थान पर उन्होंने कहा है – "आजकल काफी लोग ऐसा समझते हैं कि जो भूतकाल की ओर दृष्टि लगाये बैठे हैं, वे भयंकर भूल कर रहे हैं। किन्तु मुझे तो लगता है कि सही बात इसके बिल्कुल विपरीत है। हिन्दू जाति जब तक अपनी अतीत कीर्ति को भूली हुई थी, तब तक मानो वह तन्द्राच्छन्न दशा में थी।

वर्तमान में जैसे ही उसकी दृष्टि पुरातनकाल की ओर जाने लगी, वैसे ही सर्वत्र एक नवजीवन का संचार हो रहा है। भारत की इस अवनति का एक कारण है हमारा संकीर्ण दृष्टिकोण एवं कर्मक्षेत्र का संकुचन। मेरा दृढ़ विश्वास है कि कोई भी व्यक्ति या जाति दूसरों के साथ सम्पर्क तोड़कर टिकी नहीं रह सकती। ... पुराने समय में चारों ओर फैले बौद्धों के संस्पर्श से हिन्दू समाज को बचाने के लिए वैसा करना पड़ा था।'

❑❑❑

९. समुद्रयात्रा

स्वामीजी के मद्रास पहुँचते ही नगर में चारों ओर हलचल मच गयी। विश्वविद्यालय से दल-के-दल शिक्षक और छात्र उनसे मिलने को आने लगे। प्राचीनतम वेदों से लेकर आधुनिकतम कान्ट-हेगेल तक, फिर काव्यशास्त्र, शिल्पकला, संगीतविद्या, नीतिशास्त्र, योग, भौतिकविज्ञान, राजनीति आदि प्रत्येक विषय में उनका समान रूप से अधिकार था। सब लोक उनकी बुद्धि की पैठ देखकर विस्मित थे। एक प्रत्यक्षदर्शी लिखते हैं – "मुण्डित-मस्तक, मनोहर रूप और गैरिक वस्त्रधारी ये संन्यासी कलकत्ता विश्वविद्यालय के एक ग्रैजुएट हैं; अंग्रेजी और संस्कृत भाषा में लगातार बोलने के अभ्यस्त हैं; प्रत्येक प्रश्न का युक्तियुक्त उत्तर देने की उनमें अद्‌भुत क्षमता है और संगीतविद्या में तो वे ऐसे निपुण हैं कि उनके कण्ठ से नितान्त स्वाभाविक रूप से ही मधुर स्वरलहरी निकलकर सारे ब्रह्माण्ड के साथ उनको एकाकार कर देती है। पर दूसरी ओर वे एक सर्वस्व-त्यागी, नि:सम्बल, परिव्राजक मात्र हैं। बलिष्ठ, साहसी, उच्च स्तरीय व्यंग-विनोद में पटु इन संन्यासी ने बहुत से लोगों के हृदय में अटूट विश्वास की ज्योति जगा दी है।"

तरुण संन्यासी के मुख से नवजागरण का सन्देश सुनकर सभी मुग्ध थे। शिकागो धर्ममहासभा में स्वामीजी को हिन्दूधर्म का प्रतिनिधि बनाकर भेजने के लिए मद्रास के प्रमुख नागरिक बड़े उत्साह के साथ धन-संग्रह के कार्य में जुटे हुए थे। ठीक उसी समय एक रात को अर्धनिद्रा की अवस्था में स्वामीजी ने एक अद्‌भुत स्वप्न देखा – ज्योतिर्मय देह में श्रीरामकृष्ण समुद्र के जल पर से होकर चले जा रहे हैं और उन्हें अपने पीछे-पीछे चले आने का संकेत कर रहे है। क्षण भर बाद ही उनकी नींद खुल गयी और उनका हृदय एक अवर्णनीय आनन्द से पूर्ण हो उठा। साथ ही उन्हें सुनाई पड़ी एक देववाणी – 'जाओ'।

श्रीरामकृष्ण की इच्छा जान लेने के बाद अब उनका पाश्चात्य देशों में जाने का संकल्प दृढ़ हो गया। दो-एक दिन के भीतर ही यात्रा की सारी तैयारियाँ पूरी हो गयीं।

दो साल पहले स्वामीजी ने खेतड़ी के सन्तानहीन राजा को पुत्र होने का आशीर्वाद दिया था। राजा को पुत्रलाभ हुआ। अत: उनके विशेष अनुरोध पर राजपुत्र को आशीष देने उन्हें खेतड़ी जाना पड़ा।

राजा, राजपुत्र और प्रजा को आशीर्वाद देने के बाद स्वामीजी जहाज पकड़ने बम्बई गये। राजा की इच्छानुसार उनके प्राइवेट सेक्रेटरी मुंशी जगमोहनलाल भी स्वामीजी को जहाज में बैठाने बम्बई तक आये। मद्रास से उनके प्रिय शिष्य आलासिंगा पेरुमल भी आये थे। पी.एन्ड.ओ. कम्पनी के 'पेनिनसुलर' नामक जहाज के लिए स्वामी विवेकानन्द के नाम एक प्रथम श्रेणी की टिकट खरीदी गयी। ३१ मई १८९३ ई. को जहाज छूटा। जगमोहनलाल और आलासिंगा के नेत्र सजल हो उठे। स्वामीजी की आँखें भी गीली हो रही थीं — मातृभूमि का लगाव उन्हें व्यथित कर रहा था। हृदय के आवेग को रोकने का प्रयास करते हुए वे दोनों हाथों से अपनी छाती को दबाने लगे।

डेक पर खड़े होकर वे अपलक भारत की तटभूमि की ओर निहारते रहे। मेरा महिमामय भारतवर्ष ! हाय, पराधीन, पददलित भारतभूमि ! भारत की सैकड़ों चिन्ताएँ उनके मानस-पटल पर छा रही थीं। जहाज बम्बई से श्रीलंका, पेनांग, सिंगापुर और हांगकांग होते हुए बढ़ चला। इसके बाद कैन्टन, नागासाकी; ओसाका, क्योटो और टोकियो देखते हुए वे स्थल-मार्ग से याकोहामा आये। सुदूर-पूर्व के देशों पर आर्य सभ्यता का प्रभाव कितना व्यापक था, यह वे विशेष रूप से देखते आ रहे थे। साथ ही एशिया की आध्यात्मिक एकता के बारे में भी उनकी धारणा दृढ़ होती जा रही थी। आधुनिक जपान की सर्वांगीण उन्नति ने उनकी दृष्टि विशेष रूप से आकृष्ट की। स्वाधीन जापान ने कुछ वर्षों के भीतर ही पाश्चात्य-राष्ट्रों के साथ प्रतिस्पर्धा करते हुए अद्भुत प्रगति की थी। उन्हीं दिनों चालीस करोड़ चीनियों के साथ युद्ध में मुठ्ठी भर जापानी

विजयी हुए थे। इससे उनके आत्मविश्वास और संगठन-शक्ति की ही विजय-घोषणा हुई थी। स्वामीजी ने कहा था – "इस बार यद्यपि चीन जापान के हाथों पराजित हुआ है, फिर भी चीन एक विराट् शक्ति के रूप में उभरेगा। रूस भी बहुत शक्तिशाली हो जाएगा।" आज चीन और रूस के बारे में उनकी भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य हो रही है। पाश्चात्य याँन्त्रिक सभ्यता ने आज सारे विश्व को ध्वंस के जिस कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है, इसके बारे में भी उन्होंने स्पष्ट शब्दों में चेतावनी दी थी।

मातृभूमि की व्याधियों के बारे में सोच-सोचकर उनके प्राण व्यथित हो रहे थे। याकोहामा से उन्होंने अपने दक्षिण-भारतीय शिष्यों को लिखा – "जापानियों के बारे में मेरे मन में कितनी ही बातें उठ रही हैं, उन सबका इस छोटे से पत्र में वर्णन नहीं कर सकता। ... भारतमाता कम से कम एक हजार युवकों की बलि माँग रही है। याद रखो – मनुष्य चाहिए, पशु नहीं। तुम्हारी इस प्राणशक्तिहीन सभ्यता को तोड़ने के लिए ही प्रभु ने अंग्रेजीराज को भेजा है।"

याकोहामा से जहाज द्वारा प्रशान्त महासागर की नील जलराशि को पारकर स्वामीजी १५ जुलाई को कनाडा के वैंकुवर बन्दरगाह पर उतरे। वहाँ से ट्रेन द्वारा वे अमेरिका की प्रख्यात महानगरी शिकागो आये। यहाँ वे बिल्कुल अज्ञात थे और उनके पास कोई परिचय-पत्र आदि भी नहीं था। अतः वे एक होटल में ठहरे और बारह दिन तक घूमते हुए शिकागो की अभूतपूर्व प्रदर्शनी देखते रहे। क्रिस्टॉफर कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज को चार सौ वर्ष पूरे हो रहे थे। इसी उपलक्ष्य में यह विश्वमेला आयोजित किया गया था। मेला बहुत ही बड़ा था। कितने ही लोग दूसरे देशों से देखने आये थे और चहल-पहल का तो पूछना ही क्या ! सब कुछ स्वामीजी को नया लग रहा था। पश्चिमी देशों की आर्थिक समृद्धि और कर्मकुशलता के बारे में उनकी धारणा कुछ धूमिल सी थी। विज्ञान के कितने ही नये नये आविष्कार हो गये हैं, कल-कारखानों का कितना विकास हो गया है, इन धनिक राष्ट्रों की शिल्पकला में कितनी उन्नति हो गयी है – यह सब उन्हें आज दिख रहा था। इसके साथ ही भारत की निर्धनता आदि की बात याद आते

ही उनका हृदय वेदना से बोझिल हो उठता था।

प्रदर्शनी के पूछताछ कार्यालय में जाने पर उन्हें बताया गया कि धर्ममहासभा सितम्बर में होगी। अब इतने दिनों तक होटल में रहने के लिए पैसे कहाँ थे? फिर उपयुक्त परिचय-पत्र के अभाव में धर्मसभा में प्रतिनिधि बन पाना असम्भव-सा था। इसके अलावा प्रतिनिधियों के निर्वाचन की अन्तिम तिथि भी बीत चुकी थी। सब कुछ निराशाजनक था। किंकर्तव्यमूढ़ हो उन्होंने अपने दक्षिण-भारतीय शिष्यों को 'समुद्री तार' भेजा और सब कुछ जनाते हुए पत्र भी लिखा। उन्होंने दृढ़ निश्चय किया कि जैसे भी हो, वे अन्त तक प्रयास करेंगे। उन्हें दैवी आदेश जो प्राप्त हो चुका था।

शिकागो के होटल बहुत महँगे थे। उन्हें पता चला कि बोस्टन कम खर्चीला है। अत: उन्होंने बोस्टन की यात्रा की। विवेकानन्द जहाँ कहीं भी जाते, वहाँ के लोग उनकी ओर आकृष्ट हो जाते। बोस्टन के 'ब्रीजी मिडोज' की एक धनाढ्य महिला के साथ ट्रेन में परिचय हुआ। वे स्वामीजी के व्यक्तित्व से अत्यन्त प्रभावित हुईं और उन्हें आमन्त्रित करके अपने घर ले गयी।

वहाँ पर धीरे-धीरे उनका कई प्रतिष्ठित लोगों के साथ परिचय हो गया। हार्वर्ड विश्वविद्यालय के ग्रीक भाषा के अध्यापक प्रोफेसर जे. एच. राइट पहले ही दिन इन युवा संन्यासी के साथ चार घण्टे तक बातचीत करने के फलस्वरूप उनकी प्रतिभा से इतने मुग्ध हुए कि उन्होंने स्वामीजी को धर्ममहासभा में प्रतिनिधि के रूप में प्रवेश दिलाने का भार अपने ऊपर ले लिया। उन्होंने प्रतिनिधि-निर्वाचन सभा के अध्यक्ष को लिखा – "ये एक इतने बड़े विद्वान हैं कि हमारे समस्त प्राध्यापकों को एकत्र करने पर भी वे इनकी बराबरी नहीं कर सकेंगे।" इतना ही नहीं, उन्होंने स्वामीजी के लिए शिकागो तक का टिकट खरीद दिया और धर्मसम्मेलन अधिकारियों के नाम एक पत्र भी लिखा। यह सब मानो पूर्वनियोजित दैवी-व्यवस्था के अनुसार ही हुआ।

नवीन उत्साह के साथ स्वामीजी ने शिकागो की यात्रा की। ट्रेन वहाँ रात में पहुँची। अब उनके सामने समस्या यह थी कि कहाँ जाएँ ? क्या करें ? समिति

के कार्यालय का पता भी कहीं खो गया था। किसी से कोई सहायता मिलने की आशा भी नहीं थी। भयानक ठण्ड से बचने के लिए उन्होंने स्टेशन पर ही कोने में पड़े लकड़ी के एक खाली बक्से में आश्रय लिया। सबेरा होते ही वे रास्ते की तलाश में निकले। श्वेतांग युरोपीय न होने के कारण उन्हें पग-पग पर अपमान और तिरस्कार का सामना करना पड़ा। कहीं नौकरों ने उन्हें झिड़की दी, तो कहीं उनके मुँह के ऊपर ही भड़ाके के साथ दरवाजा बन्द कर दिया गया। बहुतों ने उन्हें हब्शी समझकर तकलीफ़ दी। हताश मन और थका शरीर लिये वे रास्ते के किनारे बैठ गये। ठीक उसी समय रास्ते की दूसरी ओर के घर से निकलकर एक महिला उनके पास आयी और मधुर स्वर में उनसे पूछा, "महाशय, क्या आप धर्ममहासभा के प्रतिनिधि हैं ?" स्वामीजी बोले, "हाँ, सो तो हूँ, पर पता खो जाने कारण बड़ी मुश्किल में पड़ा हूँ।"

वे महिला उन्हें परम आत्मीय की तरह आदरपूर्वक अपने घर ले गयीं। भोजन और विश्राम के बाद स्वामीजी उनके साथ महासभा के कार्यालय में गये। वहाँ उनको प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार कर लिया गया और अन्य प्राच्यदेशीय प्रतिनिधियों के साथ ही उनकी भी ठहरने आदि की व्यवस्था कर दी गयी।



१०. शिकागो-धर्मसम्मेलन में और उसके बाद

११ सितम्बर १८९३ ई., सोमवार धर्मजगत् के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा, क्योंकि इसी दिन पूर्व और पश्चिम का मिलन हुआ था, इसी दिन समग्र जगत् में विश्वबन्धुत्व का सूत्रपात हुआ था और इसी दिन प्राचीन भारत के वेदान्त-धर्म ने स्वामी विवेकानन्द को अपना यन्त्र बनाकर महान् धर्मसम्मेलन में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया था।

प्रात:काल यथारीति पाठ और संगीत आदि के साथ महासभा का श्रीगणेश हुआ। मंच पर बीच में बैठे थे अमेरिका के रोमन कैथलिक सम्प्रदाय के धर्मप्रमुख सभापति कार्डिनल गिबन्स और उनके दाहिने एवं बायें दोनों ओर विराजमान थे विभिन्न प्राच्य धर्मों के प्रतिनिधिगण। स्वामी विवेकानन्द किसी सम्प्रदायविशेष के नहीं थे। वे तो समग्र भारतवर्ष के सनातन वैदिक-धर्म के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित थे।

नीचे एक हॉल था और उसके बाद एक बड़ी गैलरी, जिसमें अमेरिका तथा अन्य देशों के चुने हुए छह-सात हजार नर-नारी उपस्थित थे। मंच पर ईसाई धर्म की प्रमुख शाखाओं के साथ ही यहूदी, जैन, हिन्दू, बौद्ध, कन्फ्यूशियन, सिन्तो, इस्लाम और पारसी आदि धर्मों के प्रतिनिधिवृन्द अपनी अपनी राष्ट्रीय वेशभूषा में आसीन थे।

सभापति द्वारा आमन्त्रित हो प्रतिनिधियों ने पहले से तैयार किये हुए भाषणों के माध्यम से अपने धर्म के सम्बन्ध में विचार प्रकट किये। स्वामीजी तो कुछ लिखकर ले नहीं गये थे। उन्होंने खड़े होकर "अमेरिकावासी बहनो और भाइयो" कहकर सभा को सम्बोधित किया। इन कुछ शब्दों के भीतर ही ऐसी विपुल शक्ति भरी थी, जिसने श्रोताओं का हृदय स्पन्दित कर दिया। तुरन्त सैकड़ों नर-नारी उठकर खड़े हो गये और सभी ओर से प्रचण्ड तालियाँ बजने

लगी। लोगों की उद्दीपना और तालियाँ रुकती ही न थीं।

सभी वक्ताओं ने प्रचलित प्रथा का अनुसरण करते हुए श्रोताओं को सम्बोधित किया था। पर एकमात्र विवेकानन्द ही ऐसे थे जिन्होंने "बहनो और भाइयो" कहकर मानवजाति को सम्बोधित किया था। वक्ता के हृदय का भ्रातृभाव सभी के हृदय में प्रविष्ट होकर झंकृत हो उठा। क्षण भर के लिए हजारों नर-नारियों के हृदय में सम्पूर्ण मानवजाति की एकता की अनुभूति साकार हो उठी।

स्वामीजी के उस सम्बोधन में विश्व-भ्रातृत्व का बीज, विश्व-मानवता की झंकार, वैदिक ऋषि की वाणी – सभी कुछ निहित था। सब मनुष्य उन्हीं परमपिता की सन्तान हैं और आपस में भाई-भाई हैं, एक अखण्ड मानवजाति के घटक हैं। आजकल 'एक मानवजाति' और 'एक राष्ट्र' के गठन की बातें सुनने में आती हैं। इस विश्व-मानवता का बीज शिकागो-धर्ममहासभा में स्वामी विवेकानन्द ने ही बोया था। इस प्रसंग में रोमाँ रोलाँ ने कहा है – "वह श्रीरामकृष्ण का ही निःश्वास था जो सभी विघ्न-बाधाओं को पार करता हुआ उनके महान् शिष्य के मुख्य से निर्गत हुआ था।"

बारम्बार प्रयास के बावजूद शुरू के कुछ मिनट स्वामीजी श्रोताओं के उत्साह और आनन्द को कम नहीं कर सके। वे सब अभिभूत होकर खड़े रहे। सभा जब शान्त हुई, तब उन्होंने अपने कमलनेत्रों से ज्योति-छटा बिखेरते हुए, गम्भीर स्वर में एक छोटा-सा भाषण दिया। भारतवर्ष के शाश्वत धर्म और आदर्श की वाणी सुनाई। संक्षिप्त होने पर भी उनका भाषण उदार और सार्वभौमिक भावों से परिपूर्ण था।*

तदुपरान्त उन्होंने विभिन्न अवसरों पर जो व्याख्यान दिये, उनमें किसी भी धर्म की निन्दा या समालोचना नहीं थी। उन्होंने किसी भी धर्म को छोटा नहीं कहा। उन्होंने यही कहा – "ईसाई को हिन्दू या बौद्ध नहीं बनना होगा, और न हिन्दू

---

* धर्मसम्मेलन के सत्रह दिन के अधिवेशन-काल में स्वामीजी ने विविध अवसरों पर बारह व्याख्यान दिये। ये व्याख्यान रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर से 'शिकागो वक्तृता' नामक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुए हैं। (अनु)

अथवा बौद्ध को ईसाई ही। पर हाँ, प्रत्येक धर्म को अपनी स्वतन्त्रता और वैशिष्ट्य को बनाये रखकर दूसरे धर्मों का भाव ग्रहण करते हुए क्रमशः उन्नत होना होगा। उन्नति या विकास का यही एकमात्र नियम है।''

अन्य वक्ताओं ने अपने ही सम्प्रदाय के भगवान् की महिमा का गुणगान किया था। विवेकानन्द ही एकमात्र ऐसे वक्ता थे जिन्होंने सभी धर्मों के भगवान् की – विराट् पुरुष की बात कही। उन्हीं विराट् पुरुष को आधार बनाकर सार्वभौमिक विश्वधर्म गठित हो सकेगा – इस विषय में भी उन्होंने संकेत दिया था। धर्मसम्मेलन ने इन तरुण संन्यासी का अभिनन्दन किया। एक ही दिन में सारी अमेरिका में उनकी कीर्ति फैल गयी। शिकागो महानगरी की जनता स्वामीजी के चरणों में लोट पड़ी। उस दिन से अमेरिकावासी तथा वहाँ के समाचारपत्र उनकी प्रशंसा करते न अघाते। उस वीर संन्यासी के रंगीन चित्र शिकागो में सर्वत्र लगे देखकर लोगों के मन में श्रद्धा और विस्मय का उद्रेक होता था। अमेरिकी समाचारपत्रों ने विवेकानन्द को सम्मेलन का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति घोषित किया और कहा – ''उनका व्याख्यान सुनने के बाद आज हमें यह विशेष रूप से अनुभव हुआ है कि भारत जैसे ज्ञानवान देश में ईसाई धर्मप्रचारक भेजना कितनी बेवकूफ़ी की बात है।''

स्वामीजी की शिकागो-वक्तृता भारतवर्ष की मुक्ति का संक्षित लेखा है। उन्होंने हिन्दूधर्म की जो युगोपयोगी व्याख्या की है, उसमें इसे विश्वधर्म का रूप देने के साथ ही नवजीवन का संचार किया गया है। स्वामीजी ने हिन्दूधर्म को विश्ववरेण्य बना दिया।

भगिनी निवेदिता लिखती हैं – शिकागो-धर्ममहासभा में जब स्वामीजी ने अपना भाषण आरम्भ किया, तो उनका विषय था – ''हिन्दुओं के प्राचीन धार्मिक विचार', पर जब उनका भाषण समाप्त हुआ तो आधुनिक हिन्दूधर्म की सृष्टि हो चुकी थी। उनके भीतर सम्पूर्ण भारतवर्ष को अपनी भावधारा का महत्त्व आँकने की क्षमता मिला। ... भारत की धर्म-चेतना ने उनके द्वारा पश्चिम में अपने आपको प्रकाशित किया।''

२७ सितम्बर को, धर्ममहासभा के अन्तिम दिन मानो गौरव के अन्तिम शिखर पर खड़े होकर उन्होंने कहा – "इस धर्ममहासभा ने यदि जगत् को कुछ दिखाया है, तो वह यही कि पवित्रता, शुद्धता और दयाशीलता किसी एक विशेष सम्प्रदाय की सम्पत्ति नहीं है, तथा प्रत्येक धर्म में महान् और सच्चरित्र नर-नारियों का जन्म हुआ है। इस प्रमाण के होते हुए भी यदि कोई स्वप्न देखे कि अन्य सभी धर्म लुप्त हो जाएँगे और एकमात्र उसी का धर्म बचा रहेगा, तो मुझे उस पर दया आती है, मैं उसके लिए बहुत दु:खी हूँ। मैं यह स्पष्ट रूप से कहता हूँ कि शीघ्र ही हम देखेंगे कि सारे प्रतिरोधों के बावजूद हर धर्म की पताका पर लिखा होगा – 'युद्ध नहीं – सहायता; विनाश नहीं – ग्रहण; मतभेद और कलह नहीं – मिलन और शान्ति !' "

विवेकानन्द के इन वाक्यों का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण परिणाम हुआ। उन्होंने वेदान्त की सर्वभौमिक वाणी का प्रचार किया था जिसके फलस्वरूप आर्यधर्म, आर्यजाति और आर्यभूमि संसार की नज़रों में पूजनीय हो गयी। हिन्दूजाति पददलित है, पर घृणित नहीं; दीन-दु:खी होने पर भी बहुमूल्य पारमार्थिक सम्पत्ति की अधिकारिणी है और धर्म के क्षेत्र में जगद्गुरु होने के योग्य है। अनेक शताब्दियों के बाद विवेकानन्द ने हिन्दूजाति को अपनी मर्यादा का बोध कराया, हिन्दूधर्म को घृणा और अपमान के पंक से उबार कर, उसे विश्व-सभा में अति उच्च आसन पर विराजमान कराया।



विवेकानन्द की विजय पर सारे भारत में उल्लास की लहर फैल गयी। दीनता और लांछना से दबी भारतभूमि में मानो आनन्द की सरिता प्रवाहित होने लगी। स्वामीजी की इस सफलता का प्रभाव हमारे प्रत्येक राष्ट्रीय उद्यम और कर्म पर पड़ा। केवल धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में ही नहीं, वरन् आर्थिक और सामाजिक जीवन पर भी उसका प्रभाव बड़ा ही व्यापक हुआ था और उसी दिन से हमारा राष्ट्र सर्वतोमुखी विकास के पथ पर आगे बढ़ चला।

रोमाँ रोलाँ ने इस जागरण की ओर इंगित करते हुए लिखा है – "सर्वप्रथम यहीं से भारत की उन्नति शुरू हुई। उसी दिन से इस दीर्घकाय कुम्भकर्ण की नींद टूटने लगी। ... विवेकानन्द के निधन के तीन साल बाद नयी पीढ़ी ने जो बंगाल का विप्लव तथा तिलक एवं गाँधी का आन्दोलन शुरू होते देखा, वह तथा वर्तमान भारत के संगठित जन-आन्दोलन विवेकानन्द के ही सशक्त आवाहन के फल हैं।" स्वामी विवेकानन्द भारतीय जनजागरण के ऋत्विक् हैं – स्वाधीनता-संग्राम के अग्रदूत हैं।

अज्ञात और अख्यात स्वामी विवेकानन्द विश्ववन्द्य हुए। जिस हिन्दूधर्म को मूर्तिपूजक कहा गया था, जिसे विश्व-धर्म-सम्मेलन में निमन्त्रण भी नहीं भेजा गया था, उसी हिन्दूधर्म के बिन-बुलाये प्रतिनिधि के रूप में, धर्मसम्मेलन में उपस्थित हो विवेकानन्द ने सनातन वैदिकधर्म के लिए सबसे उच्च सिंहासन पर अधिकार जमा लिया। उन्हें 'साइक्लोनिक हिन्दू मांक' (तूफ़ानी हिन्दू संन्यासी) और 'लाइटनिंग ओरेटर' (विद्युती-वक्ता) के नाम दिये गये। पर इस सम्मान को विवेकानन्द ने अत्यन्त विनयपूर्वक ही ग्रहण किया। वे अपने आपको 'सन्देशवाहक' मात्र कहा करते थे। वे श्रीरामकृष्ण के सन्देशवाहक दूत थे – आर्य ऋषियों के चिरन्तन सन्देश के मूर्त प्रतीक थे।

धर्ममहासभा समाप्त होते ही स्वामीजी को अनेक स्थानों से व्याख्यान के लिए आमन्त्रण आने लगे। बहुत-सी संस्थाओं सभा-समितियों, गिरजाघरों, महिला-संस्थाओं, शोध-केन्द्रों, शिक्षा-शालाओं, विश्वविद्यालयों और प्रतिष्ठित नागरिकों के घरों में उन्हें आमन्त्रित किया जाने लगा। उसी समय अमेरिका की एक व्याख्यान-कम्पनी ने इस 'जनप्रिय वक्ता' के समक्ष संयुक्त राज्य के विभिन्न स्थानों में व्याख्यान देने का प्रस्ताव रखा। अमेरिका की आम-जनता से परिचित होने का सुनहरा अवसर देखकर स्वामीजी ने उसे स्वीकार किया और उस कम्पनी की व्यवस्था के अनुसार वे संयुक्त राज्य अमेरिका के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त का भ्रमण करते हुए व्याख्यान देने लगे। सभी स्थानों पर उनका विशेष सम्मान और अभिनन्दन हुआ। उनके भाषणों का फल भी आश्चर्यजनक हुआ। वे केवल धर्म

या वेदान्त-दर्शन पर ही भाषण देते रहे हों, ऐसी बात नहीं थी, उन्होंने आर्य-सभ्यता, भारतीय संस्कृति एवं समाज-व्यवस्था, मूर्तिपूजा, सामाजिक रीति-रिवाज, नारीजाति का आदर्श आदि विविध विषयों पर भी भाषण दिये। इसका फल यह हुआ कि मिशनरियों ने भारतवासियों को नंगा, नरमांस-भक्षी, असभ्य, बर्बर, अधर्मी, अविश्वासी, मूर्तिपूजक आदि कहकर जो झूठा प्रचार किया था, वे सब गलत धारणाएँ अमेरिकी जनता के मन से दूर हो गयी। 'जो जाति विवेकानन्द जैसे व्यक्ति को जन्म दे सकती है, वह जाति कैसी है' — इस विषय में अब उन्हें अटकल लगाने की जरूरत नहीं रही। विविध कारणों से उन्होंने कुछ दिन बाद उस व्याख्यान-कम्पनी से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया और अपनी इच्छानुसार भ्रमण करते हुए व्याख्यान देने लगे। इसी समय से अमेरिका में उनका ठीक-ठीक कार्य आरम्भ हुआ।

स्वामीजी का वेदान्त-प्रचार कोई आसान काम नहीं था। विशेषकर ईसाई मिशनरियों के शत्रुतापूर्ण व्यवहार से उन्हें काफ़ी तकलीफ़ उठानी पडती थी। पर वे थे कि उस ओर ध्यान न देकर सिंह के समान वीरतापूर्वक प्रचार-कार्य चलाये जा रहे थे। विद्युत्-गति से एक नगर से दूसरे नगर की यात्रा करते हुए कभी-कभी तो वे सप्ताह में तेरह-चौदह व्याख्यान तक दे डालते थे। अब तक अमेरिका के अनेक प्रतिष्ठित और बुद्धिजीवी लोग उनके अनुयायी, समर्थक और शिष्य हो चुके थे। कुछ लोगों ने तो संन्यास लेकर वेदान्त-प्रचार में उन्हें सहयोग देना भी प्रारम्भ कर दिया।

१८९५ ई. की फरवरी में उन्होंने न्यूयार्क में 'राजयोग' और 'ज्ञानयोग' पर एक व्याख्यानमाला आरम्भ की। बाद में वे व्याख्यान पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। अमेरिका के शिक्षित और बौद्धिक वर्ग में ये पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि कुछ सप्ताह के भीतर ही उनके तीन संस्करण निकालने पड़े। इन ग्रन्थों को पढ़कर अमेरिका के विख्यात दार्शनिक विलियम जेम्स और बाद में रूस के प्रसिद्ध मनीषी टॉल्स्टाय बड़े मुग्ध हुए थे।

पश्चिम में विजय-अभियान चलाते समय स्वामीजी अपने भारतवर्ष को

भूले नहीं थे। भारत की स्मृति उनके हृदय की गहराई में घर किये हुए थी। तभी तो उन्होंने पाश्चात्य देशों में रहते समय ही भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों पर केन्द्र एवं शाखाएँ बनाकर जनता में राष्ट्रीयता का बोध जगाने के लिए अपने शिष्यों और गुरुभाइयों का आह्वान किया था। उन्होंने कहा था – "अगले पचास वर्षों के लिए अपने मन से बाकी सभी देव-देवताओं को विदा कर देना होगा। ... हमारा देश ही हमारा एकमात्र देवता है। सबसे पहले उस विराट् देवता की पूजा करनी होगी। ... सबसे पहले हमें अपने स्वदेशवासियों की पूजा करनी होगी।"

स्वामीजी का आह्वान निष्फल नहीं गया। उनके गुरुभाइयों तथा शिष्यों ने उनकी पुकार का उत्तर दिया। कलकत्ता और मद्रास में दो केन्द्र बनाकर जन-जागरण कार्य शुरू हुआ। स्वामीजी जब इस प्रकार अमेरिका में वेदान्त-प्रचार करते हुए भारत में संगठन का कार्य भी कर रहे थे, उसी समय उन्हें यूरोप से भी वेदान्त-प्रचार के लिए आमन्त्रण मिला। कुछ अंग्रेज मित्रों ने उनसे बार-बार इंग्लैंड आने का अनुरोध करते हुए लिखा – "यहाँ पर वेदान्त-प्रचार के लिए विस्तृत क्षेत्र पड़ा है। आपके आने पर सारी व्यवस्थाएँ कर दी जाएँगी।" इस आमन्त्रण को उन्होंने भगवान् का ही आदेश माना और अपने एक धनाढ्य मित्र के साथ, जो यूरोप जा रहे थे, चलकर १८९५ ई. के अगस्त में वे लन्दन पहुँचे।

पराधीन देश के एक हिन्दू प्रचारक को अंग्रेज कैसे ग्रहण करेंगे, इस बारे में इंग्लैण्ड आने के पूर्व ही उन्होंने खूब सोचा था, लेकिन शीघ्र ही उनकी यह दुविधा दूर हो गयी। कुछ ही दिनों में इन महातेजस्वी युवा संन्यासी ने बहुत-से लन्दनवासियों का ध्यान आकर्षित कर लिया। तीन सप्ताह भी पूरे नहीं हुए थे कि महत्त्वपूर्ण क्लबों और सोसाइटियों से उन्हें ढेरों निमन्त्रण आने लगे।

२२ अक्तूबर को उन्होंने पिकैडली के प्रिंसेप-हाल में 'आत्मज्ञान' विषय पर पहला व्याख्यान दिया, जिसके प्रभाव का वर्णन करते हुए 'स्टैंडर्ड' पत्र ने लिखा था – "उस दिन भारत के एक तरुण संन्यासी ने प्रिंसेस-हाल में भाषण दिया। राजा राममोहनराय के बाद एकमात्र केशवचन्द्र सेन के अतिरिक्त इतना अच्छा दूसरा वक्ता इंग्लैंड के मंच पर दृष्टिगोचर नहीं हुआ।" कुछ ही दिनों में

स्वामीजी ने अंग्रेज जाति का हृदय जीत लिया। समाचार-पत्र उनकी भूरि भूरि प्रशंसा करने लगे। एक संवादपत्र ने लिखा था – "लन्दन के गणमान्य परिवार की महिलाओं को, कुर्सियों के अभाव में, ठीक भारतीय शिष्यों की तरह जमीन पर पालथी मारकर बैठे व्याख्यान सुनते हुए देखना वास्तव में एक दुर्लभ दृश्य था। ... स्वामीजी ने अंग्रेज जाति के हृदय में भारत के प्रति प्रेम और सहानुभूति का जो उद्रेक कर दिया है, वह भारतवर्ष के लिए विशेष रूप से लाभकारी होगा।"

लन्दन में स्वामीजी का कार्य अच्छी तरह अग्रसर होने लगा। अंग्रेज जाति ने उन्हें हार्दिक श्रद्धा के साथ ग्रहण किया। स्वामीजी ने कहा था – "यद्यपि अंग्रेज-जाति किसी नये भाव को जल्दी ग्रहण नहीं करती, पर एक बार ग्रहण करने पर इतनी दृढ़तापूर्वक स्वीकार करती है कि छोड़ने का नाम नहीं लेती।" लगभग तीन महीने लन्दन में प्रचार करने के बाद अमेरिकी शिष्यों के बारम्बार अनुरोध पर उन्होंने ६ दिसम्बर को पुन: अमेरिका की यात्रा की।



अमेरिका लौटकर अपने कार्य को स्थायी रूप देने के लिए वे संगठन और उपयुक्त सहयोगी तैयार करने में जुट गये। प्रचारक के रूप में उन्होंने भारतवर्ष से अपने गुरुभाइयों को लाने की भी व्यवस्था की। उन्होंने 'कर्मयोग' और 'भक्तियोग' पर जो व्याख्यान दिये थे, वे भी धीरे धीरे पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए। अमेरिका और यूरोप का बुद्धिजीवी वर्ग उनसे बहुत प्रभावित हुआ।

उनकी बातें सुनने को उत्सुक लोगों की भीड़ लग जाया करती थी। क्लबों और विश्वविद्यालयों से लोग आते। उदारपन्थी ईसाई और स्वाधीन विचारों वाले बुद्धिजीवी आग्रहपूर्वक आते। संशयवादी समालोचक भी आते। उन्होंने सबका स्वागत किया, सबको ग्रहण किया। ऐंग्लो-सैक्सन जाति में जो सद्‌गुण हैं, उनकी उन्होंने उपेक्षा नहीं की और जो दुर्गुण हैं, उनकी तीव्र आलोचना करने से भी वे चूके नहीं। पाश्चात्य देशों की अर्थ-व्यवस्था, शिल्पकला, जनशिक्षा,

अजायबघर, कल-कारखाने, वैज्ञानिक-प्रगति और जनहितकर कार्यों की उन्होंने जी खोलकर प्रशंसा की, और भारतवर्ष, की प्रगति के लिए उन्होंने इन सबकी आवश्यकता भी महसूस की; पर साथ ही उन्होंने कठोर शब्द में यह भी व्यक्त किया कि पाश्चात्य सभ्यता की भौतिक-भोगतृष्णा, धनलोलुपता, साम्राज्यवाद, विश्वग्रासी-क्षुधा और अन्य राष्ट्रों के रक्त-शोषण से अपने शरीर-पोषण की वृत्ति आदि का तथाकथित साम्य और मैत्री के साथ दूर का भी नाता नहीं है। इंग्लैंड की धरती पर खड़े होकर उन्होंने वहाँ की व्यावसायिक समृद्धि, युद्धलोलुपता और धार्मिक कट्टरता की तीव्र आलोचना करते हुए कहा – "तुम्हारी निस्सार और आडम्बरपूर्ण सभ्यता को निरीह हिन्दू इस कीमत पर कभी भी नहीं अपनाएँगे।"

पश्चिमी देशों में उनका मुख्य काम था – प्राच्य और पाश्चात्य सभ्यताओं के मिलन-हेतु सेतु का निर्माण करना और धर्म तथा विज्ञान के परस्पर आदान-प्रदान के द्वारा एक नयी सभ्यता का गठन करना। अनेक शताब्दियों के बाद भारतीय संस्कृति को स्वामी विवेकानन्द के भीतर से पुनर्जीवन का पथ मिला।

स्वामीजी की सर्वश्रेष्ठ देन की ओर संकेत करते हुए विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ने कहा था – "कुछ दिन पूर्व बंगाल में जिन महापुरुष का देहावसान हुआ है वे विवेकानन्द ही प्राच्य और पाश्चात्य को अपने दाहिने और बायें रखकर बीच में खड़े हो सके थे। भारतवर्ष के इतिहास के पश्चिम को नकारकर हमें चिरकाल के लिए संकीर्ण प्रथाओं में आबद्ध कर रखना उनके जीवन का उद्देश्य कभी नहीं था। उनमें ग्रहण करने, समन्वय करने और सृजन करने की प्रतिभा थी। भारतीय साधना का पश्चिम को प्रदान और पाश्चात्य उद्यम का भारत में आदान – इस लेनदेन का पथ प्रशस्त करने में उन्होंने अपने जीवन की आहुति दे दी थी।"

विवेकानन्द मानो स्वयं ही प्राच्य और पाश्चात्य के बीच सेतुस्वरूप हो गये थे। पश्चिम के लिए उनका कार्य था – भारत की आध्यात्मिक सम्पत्ति को ढोकर वहाँ ले जाना, और भारत एवं पूर्व के लिए उनका कार्य था – धन-सम्पत्ति एवं शक्ति-अर्जन के साधन के रूप में विज्ञान के उपयोग को बढ़ावा देना।

फरवरी, सन् १८९६ में स्वामीजी ने न्यूयार्क में वेदान्त-समिति की स्थापना की। बाद में उन्होंने डिट्राएट एवं बोस्टन आदि नगरों में भी इसी प्रकार की समितियों का गठन कर अपने शिष्यों के ऊपर उनके संचालन का भार सौंप दिया। उस देश के अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों को उन्होंने वेदान्तधर्म में दीक्षित किया। उनमें से भी कोई कोई वेदान्त-प्रचार में जुट गये। इसी प्रकार अमेरिका के अनेक चोटी के विद्वान, दार्शनिक, वैज्ञानिक, शिक्षक और लेखक-लेखिकाएँ – स्वामीजी के प्रति श्रद्धालु और अनुरागी हुए। स्वामीजी का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि जो एक दिन के लिए भी उनके सम्पर्क में आता, वह उन्हें ग्रहण किये बिना नहीं रह सकता था। अमेरिका में 'भारत के सन्देश' को दृढ़प्रतिष्ठ करने के लिए स्वामीजी को जो परिश्रम करना पड़ा, उसके फलस्वरूप उनकी जीवनी-शक्ति लगभग चुक गयी थी।

अमेरिका के कार्य में जब स्वामीजी इस प्रकार व्यस्त थे, तब इंग्लैंड के मित्रों ने बार बार आमन्त्रण भेजना शुरू किया। इंग्लैंड की जुती हुई जमीन में बीज बोने का समय आ गया था। अत: वे भी तैयार होने लगे। उधर वेदान्त-प्रचार में उन्हें सहयोग देने के लिए पूर्वव्यवस्था के अनुसार भारतवर्ष से उनके गुरुभाई स्वामी सारदानन्द चल पड़े थे, जो १ अप्रैल, १८९६ ई. को लन्दन पहुँचे। स्वामीजी भी १५ अप्रैल को न्यूयार्क से इंग्लैंड की ओर रवाना हुए।



स्वामीजी ने लन्दन पहुँचकर मई महीने के प्रथम सप्ताह से ही प्रचारकार्य प्रारम्भ कर दिया। 'ज्ञानयोग' पर नियमित रूप से कक्षाएँ लेने के अतिरिक्त उन्हें बहुत से स्थानों पर भाषण देने भी जाना पड़ता था। अंग्रेज श्रोताओं की रूढ़िवादिता और चिन्तनशीलता का भाव स्वामीजी से छिपा नहीं था। यद्यपि अमेरिका में स्वामीजी को अनेक विद्वान मित्र के रूप में मिले थे, पर अंग्रेज मित्रों ने अपना जीवन देकर स्वामीजी के कार्य में सहायता प्रदान की। इनमें उल्लेखनीय हैं – कुमारी मूलर, कुमारी नोबल (भगिनी निवेदिता), सेवियर दम्पति और

जे. जे. गुडविन। इन सभी ने भारत की सेवा में अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया।

लन्दन में रहते समय स्वामीजी की प्राध्यापक मैक्समूलर से भेंट एक महत्त्वपूर्ण घटना है। मैक्समूलर के आमन्त्रण पर स्वामीजी आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में जाकर वृद्ध प्राध्यापक से मिले। यह मिलन बड़ा ही हृदयस्पर्शी था। इस परिचय के फलस्वरूप मैक्समूलर श्रीरामकृष्ण के प्रति और भी आकृष्ट हुए और बाद में उन्होंने श्रीरामकृष्ण की एक जीवनी लिखी। रात में विदा लेकर स्वामीजी स्टेशन पर आये। वे ट्रेन की प्रतीक्षा कर रहे थे, उसी समय आँधी-पानी के बीच प्रोफेसर मूलर स्टेशन पर आ पहुँचे। स्वामीजी ने उन्हें देखकर संकोचपूर्वक कहा, "ऐसे खराब मौसम में आपको इतना कष्ट उठाने की क्या जरूरत थी ?" गद्गद कण्ठ से प्रोफेसर ने उत्तर दिया, "श्रीरामकृष्ण के सुयोग्य शिष्य से मिलने का सौभाग्य प्रतिदिन तो नहीं मिलता !" स्वामीजी निरुत्तर हो गये। इन दो-चार मर्मस्पर्शी बातों ने ही स्वामीजी को अभिभूत कर दिया। जुलाई तक प्रचार-कार्य में लगे रहने के बाद वे सेवियर दम्पति और मिस मूलर के साथ यूरोप-भ्रमण को निकले। इसी भ्रमणकाल में जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक पॉल डायसन के साथ भी उनका परिचय, साक्षात्कार और वार्तालाप हुआ था।

स्वामीजी के इस प्रचार का फल दूरगामी हुआ। इंग्लैंड़ के धर्म-नेताओं के विचारों पर भी इसने विशेष प्रभाव डाला। तथाकथित ईसाई धर्मावलम्बियों की ओर लक्ष्य करते हुए उन्होंने कहा – "तुम लोग यदि बचना चाहते हो तो ईसा मसीह की ओर लौट चलो। ... एक राष्ट्र के रूप में तुम ईसा के अनुयायी नहीं हो। लौट चलो सर्वशक्तिमान प्रभु ईसा की ओर, जिनके पास सिर रखने को भी जगह नहीं थी। तुम्हारा वर्तमान धर्म विलासिता का ही नामान्तरण मात्र है। ... तुम एक साथ ईश्वर और शैतान दोनों की सेवा नहीं कर सकते। अपने इस धन और ऐश्वर्य का दम्भ तुम ईसा के साथ जोड़ना चाहते हो ? वे स्वयं निश्चय ही इसका विरोध करते।"

स्वामीजी के इंग्लैंड़ छोड़ने के चौदह महीने बाद जब प्रसिद्ध वक्ता विपिनचन्द्र पाल उस देश में गये, तब भी उन्हें वहाँ विवेकानन्द का प्रभाव इतने

स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हुआ कि उन्होंने 'इंडियन मिरर' नामक समाचारपत्र में लिखा था – "भारत में बहुत-से लोगों की ऐसी धारणा है कि इंग्लैंड में विवेकानन्द के व्याख्यानों का कोई विशेष फल नहीं हुआ है और उनके मित्रों एवं समर्थकों ने उनके थोड़े-से कार्य को ही बहुत बढ़ा-चढ़ाकर प्रचारित किया है; पर यहाँ आकर मैं सर्वत्र ही उनका असाधारण प्रभाव देख रहा हूँ। इंग्लैंड में मैंने ऐसे बहुत-से लोगों के साथ बातचीत की है जो सचमुच ही विवेकानन्द के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु है। ... उनके प्रचार के फलस्वरूप ही आजकल बहुत-से लोगों का विश्वास है कि प्राचीन हिन्दू धर्मग्रन्थों में बहुत-से सत्य विद्यमान हैं। उन्होंने जनता के मन में इन भावों का रोपण तो किया ही है, साथ ही वे भारत और इंग्लैंड को एक स्वर्ण-डोर से जोड़ने में भी सफल हुए हैं।" विवेकानन्द के प्रचार के फलस्वरूप केवल अंग्रेज-जाति ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण एंग्लो-सैक्सन जाति में भारतीय धर्म एवं संस्कृति को जानने तथा राष्ट्रीय-जीवन में उसे अपनाने की प्रचेष्टा प्रारम्भ हो गयी।

अन्तिम बार लन्दन में स्वामीजी ने जो व्याख्यान दिये, उनसे वहाँ के बहुत से विद्वानों की विचारधारा में हलचल सी मच गयी और चिन्तन की बहुत-सी सामग्री उन्हें प्राप्त हुई। पश्चिम को स्वामीजी की अमोघ, सार्थक और प्रभावी देन का भगिनी निवेदिता ने बड़ा सुन्दर चित्रण किया है – "इस देश में स्वामी विवेकानन्द के उपदेश हममें से बहुतों को प्यासे को शीतल जल के समान तृप्तिदायक लगे हैं। धर्म के क्षेत्र में, पिछले पचास वर्ष से एक लगातार बढ़ती हुई अनिश्चितता और निराशा का भाव यूरोप के मानसिक जीवन को त्रस्त कर रहा है। पिछले कुछ समय से हममें से बहुत से लोग इस विषय में जागरूक हुए हैं। ईसाई-धर्म के कट्टरतापूर्ण सिद्धान्तों में विश्वास करना अब हमारे लिए असम्भवसा हो गया है, पर हमारे पास ऐसा कोई उपकरण नहीं था, जिसके द्वारा मतवाद के छिलकों से उसके भीतर निहित धर्म के गूदे को अलग करना सम्भव हो। अब हमें वह उपकरण प्राप्त हो गया है। वेदान्त ने हमारे धर्म के विश्वासों और आवेगों को एक दार्शनिक आधार प्रदान किया है।"

इसी बीच पूर्व व्यवस्था के अनुसार स्वामीजी के एक अन्य गुरुभाई स्वामी अभेदानन्द भी लन्दन पहुँचे। स्वामीजी ने नवागत प्रचारक को तैयार कर कर्मक्षेत्र में उतारने की व्यवस्था की। उधर स्वामी सारदानन्द ने भी न्यूयार्क में विशेष सफलता के साथ वेदान्त-प्रचार आरम्भ कर दिया। इस प्रकार पश्चिम में वेदान्त सुप्रतिष्ठित-सा हो चला।

भारतवर्ष की पुकार में निहित करुणा के स्वर ने स्वामीजी को अभिभूत कर दिया था। भारत की चिन्ता उनके हृदय में घर कर गयी थी। सारा भारत उन्हें देखने को व्याकुल था। इसी समय एक अंग्रेज मित्र ने उनसे पूछा – "स्वामीजी ! पाश्चात्य देशों में इतने साल गुजारने के बाद अब भारतवर्ष आपको कैसा लगेगा?" भावभीने स्वर में स्वामीजी ने उत्तर दिया – "पाश्चात्य देशों में आने के पूर्व मैं भारत से प्यार करता, पर अब तो भारत की हवा और मिट्टी तक मेरे लिए पवित्र है। भारतवर्ष अब मेरे लिए परम पावन तीर्थ है !"

□□□

११. वापस भारत की ओर

भारतवर्ष वापस लौटने का निश्चय करने के बाद स्वामीजी ने मद्रास एवं अन्य स्थानों पर अपने शिष्यों को पत्र लिखे। सेवियर दम्पति और गुडविन भी उनके साथ ही यात्रा करने की तैयारी कर रहे थे। यह भी निश्चित हुआ कि मिस मूलर और मिस नोबल भी भारत में नारी-शिक्षा के प्रसार के लिए स्वामीजी का अनुसरण करेंगी।

स्वामीजी से बिछुड़ने की कल्पना से उनके बहुत से शिष्यों और छात्रों का मन भारी हो रहा था। विदाई-सभा में सैकड़ों नर-नारी उपस्थित थे। बहुतों की आँखों में आँसू थे। स्वामीजी ने लन्दनवासियों का हृदय जीत लिया था।

१६ दिसम्बर १८९६ ई. को लन्दन से रवाना होकर स्वामीजी डोवर, केलाइस और मान्टसेनिस होते हुए इटली पहुँचे। रोम ने उन्हें मोहित कर लिया। रोम से नेपल्स। ३० दिसम्बर को नेपल्स से जहाज छूटा। १५ जनवरी १८९७ ई. को जहाज के कोलम्बो पहुँचने की बात थी।

स्वामीजी का सारा मन प्राण भारत के चिन्तन में डूबा हुआ था। पश्चिम से क्या वे खाली हाथ लौट रहे हैं ? नहीं, बहुत कुछ जोड़कर ले जा रहे हैं – सब कुछ भारत की उन्नति में लगायेंगे। पश्चिम की संगठनशक्ति, विज्ञान, कर्मठता, अदम्य उत्साह – ये भारत के राष्ट्रीय जीवन के लिए खूब उपयोगी सिद्ध होंगे।

डिट्रायट में एक बार उन्होंने अपने कुछ शिष्यों से कहा था – "इस देश के लोगों के लिए भला मेरे कार्य का मूल्य ही कितना है और ये लोग उसका कितना ले पाएँगे ? ... मेरे कार्य का वास्तविक सम्मान एकमात्र भारतवर्ष में ही हो सकता है। ... कुछ दिन ठहरो, देखोगे कि भारत का अन्तस्तल तक हिल उठेगा। उसकी नस-नस में बिजली दौडेगी, विजय की उमंग में भारतवासी मुझे हृदय से लगा लेंगे।" वे भारतवासियों को पहचानते थे, पर उन्होंने सोचा भी नहीं

था कि सम्पूर्ण राष्ट्र उनके आगमन प्रतीक्षा इतनी अधीरता से कर रहा है। सारे देश में अपने प्रिय और पूज्य विवेकानन्द के स्वागत की तैयारियाँ चल रही थीं। स्वागत का यह आयोजन जनता अपने हृदय की प्रेरणा से कर रही थी, राजशक्तियों का इसमें तनिक भी हाथ नहीं था। नगर नगर को असंख्य स्वागत-द्वार, तोरण और बन्दरवारों से सजाया गया था। मकान और रास्ते पर हर जगह सजावट और उत्सव की धूम थी। जनता आनन्द में उन्मत्त थी। कोलम्बो से काश्मीर तक सारे भारत में विवेकानन्द का जो राष्ट्रीय अभिनन्दन हुआ, उसकी ठीक-ठीक कल्पना कर पाना असम्भव है।

१५ जनवरी १८९७ ई. को गोधूलि के समय स्वामीजी कोलम्बो पहुँचे। उन्हें देखते ही बन्दरगाह पर एकत्र जनसमुद्र आनन्दसूचक शब्दों और जयध्वनि के साथ इतने जोरों के साथ कोलाहल करने लगा कि उसके सामने सागर की गर्जना भी फीकी पड़ गयी। अगणित नर-नारियों ने स्वामीजी की संवर्धना की और उनका कण्ठ जयमालाओं से विभूषित कर दिया। बाद में एक महती जनसभा में उन्हें मानपत्र प्रदान दिया गया। उत्तर में स्वामीजी ने भारत की आध्यात्मिक परम्परा का उल्लेख करते हुए, भारत की सर्वांगीण उन्नति के लिए सभी को मातृभूमि की सेवा में स्वयं को समर्पित कर देने का आह्वान किया।

श्रीलंका के विभिन्न स्थानों में स्वामीजी ने दस दिन बिताये। सभी जगह उनका विशेष सम्मान हुआ। जनता के उत्साह को देखकर वे भावविह्वल हो उठे। सर्वत्र उन्होंने भारतभूमि की महिमा का बखान करते हुए विविध विषयों पर भाषण दिये, जिनमें प्रमुख हैं – 'निरीह हिन्दुओं की धर्मप्राणता', 'धर्म ही भारत का एकमात्र आधार है', 'विश्व को आध्यात्मिक प्रकाश देना ही भारत की श्रेष्ठतम देन है', 'सनातन धर्म और युगधर्म', 'वेदान्त दर्शन', सार्वजनिक धर्म और सर्वधर्मसमन्वय' आदि। उनके तेजस्वितापूर्ण व्याख्यानों को सुनकर लोग अनुप्राणित और रोमांचित हो उठे थे।

स्वामीजी की दैवी वाणी, सारे भारत में प्रचण्ड हलचल उत्पन्न करती हुई, मानव के भीतर सुप्त आत्मशक्ति के समीप एक सशक्त आह्वान के रूप में पहुँची।

मृतप्राय लोगों में भी जीवन का संचार हो उठा। कोलम्बो से शुरू कर स्वामीजी ने सम्पूर्ण भारत को 'उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत' के नवजागरण की वाणी सुनायी और सभी के कानों में 'अभीः' मन्त्र भर दिया।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपने 'दि डिस्कवरी ऑफ इंडिया' (भारत की खोज) नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में स्वामीजी के बहुत-से उद्धरण देते हुए 'वर्तमान भारत को स्वामीजी की देन' विषय पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। वे लिखते हैं – "पर उनके व्याख्यानों एवं रचनाओं में एक स्वर जो बार-बार झंकृत हो रहा है वह है 'निर्भयता'। भय तथा दुर्बलता को त्याग कर वीर बनो। यही है उपनिषदों की महान् शिक्षा। ... स्वामीजी ने कहा था कि विशेष रूप से आज हमें ऐसे बलवान मनुष्यों की जरूरत हैं, जिनकी मांसपेशियाँ लौह के समान दृढ़ और फौलाद के समान सख्त हों, और जिनकी इच्छाशक्ति में ब्रह्माण्ड के गूढतम रहस्यों का भेदन करने की क्षमता हो।"



कोलम्बो से स्वामीजी रामेश्वरम, रामनाद, परमकुड़ी, मानमदुरा, त्रिचनापल्ली और कुम्भकोणम् होते हुए मद्रास पहुँचे। सभी जगह उन्हें व्याख्यान देने पड़े। शिवक्षेत्र रामेश्वरम में उन्होंने कहा – "दीन-दुःखियों, पीड़ितों और आर्तों के भीतर शिव की पूजा करो।" रामनाद के राजा ने, जो स्वामीजी के शिष्य थे, अन्य उत्साही जनों को साथ लिया और स्वामीजी की गाड़ी के घोड़े खोलकर स्वयं जुत गये। मद्रास में जनता का उत्साह और भी प्रचण्ड था। हजार हजार लोगों का उमड़ता हुआ प्रेम देखकर वे अभिभूत हो गये। मद्रास नगर ने उनके स्वागत में सत्रह विजयद्वार खड़े किये थे। उन पर फूलों की वर्षा की गयी। कर्णभेदी जयजयकार के बीच नवयुवकों ने उनकी गाड़ी से घोड़े अलग कर स्वयं ही गाड़ी को खींचा। विभिन्न भाषाओं में उन्हें छब्बीस मानपत्र भेंट किये गये। विशाल जनसमुदाय के अभिनन्दन का उत्तर देने के लिए वे एक गाड़ी के कोचबाक्स पर खड़े हो गये, पर चारों ओर से अगणित जनता की जयजयकार-

ध्वनि के कारण उस दिन उनके लिए भाषण देना सम्भव नहीं हुआ।

स्वामीजी नौ दिन तक मद्रास में ठहरे। इस अवधि में मानपत्रों का उत्तर देने के अतिरिक्त उन्होंने और भी पाँच व्याख्यान दिये, जिनके विषय थे – 'मेरी समरनीति', 'भारतीय जीवन में वेदान्त का प्रयोग', 'हमारा वर्तमान कर्तव्य', 'भारत के महापुरुष' और 'भारत का भविष्य'। 'सम्पूर्ण विश्व का एकत्व' – भारत की यह महावाणी उन्होंने भारतवासियों को सुनाते हुए कहा कि हमें इसे फिर से समझकर सारे जगत् में इसका प्रयोग करना होगा।

यद्यपि स्वामीजी पृथ्वी के तीन महान् राष्ट्रों के सम्मान के अधिकारी थे, फिर भी अपने देशवासियों से प्राप्त सम्मान को उन्होंने अत्यन्त विनयपूर्वक ग्रहण किया। एक मानपत्र के उत्तर में उन्होंने कहा था – "मैं प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे इन प्रशस्तियों के योग्य बनाएँ और मैं आजीवन धर्म और मातृभूमि की सेवा कर सकूँ।"

स्वामीजी की ओजस्वी वाणी ने भारतवासियों के जीवन में उथलपुथल मचा दी। निर्भीक जन-जागरण ने संगठित हो राष्ट्रवाद को नयी दिशा दी। उन्होंने भविष्य के भारत में अपना-अपना स्थान ग्रहण करने को आम-जनता का आह्वान किया –"नया भारत निकल पड़े मोदी की दुकान से, भड़भूजे के भाड़ के पास से, कारखाने से, हाट से, बाजार से; निकल पड़े झाड़ियों, जंगलों, पहाड़ों, पर्वतों से।"

जनता ने स्वामीजी की पुकार का उत्तर दिया। वह गर्व के साथ निकल आयी। गाँधीजी को आजादी की लड़ाई में जो जन-समर्थन मिला, वह विवेकानन्द के आह्वान का ही फल था। वस्तुतः विवेकानन्द भारत के स्वाधीनता-आन्दोलन के एक प्रमुख प्रेरणा-स्रोत थे। राष्ट्र की जीवन-भूमि में उन्होंने मुक्तिचेतना का जो बीज बोया, वही कालान्तर में अनेकों के आत्मत्याग और रक्तसिंचन के फलस्वरूप एक राष्ट्रव्यापी आन्दोलनरूपी विशाल वृक्ष में परिणत हुआ और उसी से भारतवर्ष को स्वतन्त्रतारूपी फल मिला। उन्होंने जो 'उत्तिष्ठत जाग्रत ...' की गुहार लगायी थी, उसको सुनकर लाखों लोग उठ खड़े हुए थे।

इस जागरण के फलस्वरूप बीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीय आन्दोलन ने प्रार्थना-निवेदन का प्राणहीन मार्ग छोड़कर तीव्र निर्भीक राष्ट्रीयता के नये रास्ते को पकड़ा था।



कोलम्बो से मद्रास तक लगातार उत्साहित जनता के अभिनन्दनपत्रों के उत्तर और व्याख्यान देते-देते स्वामीजी बहुत थक गये। इसी बीच उनके पास देश के अन्य भागों से निमन्त्रण आने भी शुरू हो गये थे। पर सब कुछ भविष्य के लिए स्थगित रखकर, थोड़ा आराम पाने की आशा में उन्होंने जहाज द्वारा मद्रास से कलकत्ते की यात्रा की। २० फरवरी १८९७ ई. को वे कलकत्ता पहुँचे। वहाँ उनके विराट् स्वागत की तैयारी हुई थी। स्वामीजी और उनके पाश्चात्य-शिष्यों को चार घोड़ों की एक बग्घी में बैठाया गया। सियालदह से उत्साही नवयुवकों ने घोड़े खोल दिये और स्वयं गाड़ी खींचकर ले चले। बंगाल के निवासियों और उनके गुरुभाइयों ने अत्यन्त प्रीति और आग्रह के साथ उन्हें ग्रहण किया।

कलकत्ता के नागरिकों ने उनकी विराट् अभ्यर्थना की। उत्तर में उन्होंने कहा – "श्रीरामकृष्ण के चरणों में बैठकर शिक्षा ग्रहण करने पर ही भारत का पुनर्जागरण होगा।" साथ ही बंगाल के युवकों से उन्होंने आवेदन किया – "मैं तो अभी तक कुछ भी नहीं कर सका। सब कुछ तुम्हीं को करना होगा !" बंगाल के नवयुवकों ने विवेकानन्द के इस आह्वान का उत्तर दिया। उनका वह आह्वान आज भी धरती एवं आकाश में गूँजते हुए उपयुक्त अधिकारियों को आकृष्ट कर रहा है।

अब हम विमुग्ध होकर स्वामीजी के जीवन में एक नये अध्याय का श्रीगणेश देखेंगे। आलमबाजार मठ में गुरुभाइयों के साथ रहते हुए, अब उन्होंने संगठन के कार्य में मनोनियोग किया। जननी-जन्मभूमि की सेवा में अपने आपको समर्पित कर देने को उन्होंने नवयुवकों का आह्वान किया। उनके आह्वान के संगीत ने सबका हृदय छू लिया। उन्होंने कहा – "अगले पचास वर्षों के लिए

राष्ट्र ही हमारा एकमात्र देवता हो। ... सर्वप्रथम विराट् की पूजा करनी होगी, सेवा नहीं – पूजा। ये मनुष्य, ये पशु, ये ही तुम्हारे ईश्वर हैं, और तुम्हारे प्रथम उपास्य तुम्हारे देशवासी ही हैं।'' उन्होंने और भी कहा –

''बहु रूपों में खड़े तुम्हारे आगे, और कहाँ हैं ईश ?
व्यर्थ खोज यह; जीव-प्रेम की ही सेवा पाते जगदीश।''

मार्च १८९७ ई. के अन्तिम सप्ताह में स्वामी रामकृष्णानन्द वेदान्त-प्रचारार्थ मद्रास भेजे गये। स्वामीजी की सेवाभावना से प्रेरित हो स्वामी अखण्डानन्द मुर्शीदाबाद में दुर्भिक्षपीड़ितों की सेवा में जुट गये। उसी वर्ष स्वामी त्रिगुणातीतानन्द ने दिनाजपुर जिले में एक दुर्भिक्ष-सेवा केन्द्र खोला और चारों तरफ बहुत-से गाँवों में फैले अकालपीड़ितों की सेवा करने लगे। उसी वर्ष स्वामी शिवानन्द प्रचार करने श्रीलंका भेजे गये। उधर अमेरिका में स्वामी सारदानन्द और स्वामी अभेदानन्द सफलतापूर्वक वेदान्त-प्रचार का कार्य चलाये जा रहे थे। जनसेवा का कार्य भी फैल रहा था। इन सब कार्यों को जारी रखने में स्वामीजी ने अपनी सारी शक्ति व्यय कर दी, फलतः उनका स्वास्थ्य टूट गया। उनका भग्न स्वास्थ्य देख उनके गुरुभाई चिन्तित हुए। चिकित्सकों के परामर्श पर स्वास्थ्य-सुधार के लिए उन्हें दार्जिलिंग जाना पड़ा। साथ में कुछ गुरुभाई और कई दक्षिण-भारतीय तथा पाश्चात्य शिष्य भी थे। पर वे ज्यादा दिन वहाँ ठहर नहीं सके। उन्होंने कहा था – ''एक ही चिन्ता मेरे हृदय में आग की तरह धधक रही है, वह यह कि भारत के जनसाधारण की उन्नति कैसे हो।'' उस चिन्ता ने मानों उन्हें अशान्त कर डाला था। आलमबाजार मठ लौटकर वे फिर संघ-गठन के कार्य में जुट गये।

□□□

१२. कर्मक्षेत्र में वेदान्त

पश्चिम की संगठन-शक्ति ने स्वामीजी को मोहित कर लिया था। संगठन के बिना किसी भी कार्य को स्थायी रूप नहीं दिया जा सकता। इसीलिए उन्होंने धर्म-प्रचार और जनसेवा-कार्य का विस्तार करने के लिए, संन्यासी और गृहस्थ भक्तों को साथ लेकर, 'रामकृष्ण मिशन' नाम से एक संघ का गठन किया। इस संघ का उद्देश्य और आदर्श था – 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' – जनसाधारण की सेवा और अपना कल्याण साधना। 'नरनारायण की सेवा' का उद्देश्य लेकर, स्वामी विवेकानन्द द्वारा स्थापित की हुई यह संस्था, बेलुड़ मठ के संन्यासियों द्वारा संचालित होकर, आज 'रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन' के रूप में अतीव विस्तार को प्राप्त हुई है।

रामकृष्ण मिशन स्थापित होने के कुछ दिनों बाद ही स्वामीजी उत्तरभारत की यात्रा पर निकले। कुछ दिन अल्मोड़ा में बिताने के बाद वे पंजाब आये। वहाँ सियालकोट और लाहौर में व्याख्यान देकर, वे देहरादून होते हुए राजपूताना पहुँचे। इस यात्रा के दौरान उन्होंने हजारों उत्साही एवं श्रद्धालु श्रोताओं की अनेक सभाओं में भाषण दिये और इस प्रकार लाखों लोग उनके सम्पर्क में आये। उनकी वाणी ने जन-मानस में प्रेरणा की ज्योति जगा दी थी, जिसके फलस्वरूप बहुत से गणमान्य लोगों ने देश-सेवा का व्रत लिया। जन-जागरण, नारी-शिक्षा, मानव-सेवा और राष्ट्र-उन्नयन को उनकी प्रेरणा के फलस्वरूप एक नयी दिशा मिली।

स्वामीजी का कार्यक्षेत्र सिर्फ राष्ट्र तक ही सीमित नहीं था, वरन् सम्पूर्ण मानवता उसकी परिधि में आती थी। मनुष्य के भीतर ईश्वर का निवास है, पर वे यहाँ मानों शृंखला में आबद्ध हैं। उन्हीं ईश्वर को मुक्त करने का प्रयास स्वामीजी जीवन भर करते रहे। स्वामीजी के देहावसान के पश्चात् उनके प्रभाव के बारे में

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है – "वर्तमान युग में भारत में विवेकानन्द ने ही एक ऐसे महान् सन्देश का प्रचार किया जो किसी आचार में बद्ध नहीं था। उन्होंने सभी स्वदेशवासियों को पुकारकर कहा – तुम सभी के भीतर ब्रह्म-शक्ति विद्यमान है; दीनों के भीतर विद्यमान देवता तुम्हारी सेवा चाहते हैं। उनके इस सन्देश ने युवकों के चित्त में हलचल मचा दी; इसीलिए देश-सेवा के क्षेत्र में, अद्भुत त्याग के रूप में यह सन्देश फलीभूत हो रहा है। उनकी वाणी ने मानव को सम्मान दिया है और शक्ति भी। ... देश के नवयुवकों में आजकल जो साहसपूर्ण उद्यम दीख पड़ता है, उसके मूल में है विवेकानन्द का सन्देश।"

लगभग पाँच महीनों तक स्वामीजी ने उत्तर भारत का अविराम दौरा किया। उनके सन्देश ने लोगों को उन्मत्त कर दिया। लेकिन उनकी जीवनीशक्ति मानो धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही थी। भग्न स्वास्थ्य के साथ वे कलकत्ता लौट आये। उनकी योजनाएँ एक के बाद एक साकार हो रही थीं। रामकृष्ण संघ को सुदृढ़ नींव पर प्रतिष्ठित करने के लिए ३ फरवरी, १८९८ ई. को गंगा के पश्चिमी तट पर बेलुड़ नामक ग्राम में, एक पुराने मकान सहित लगभग इक्कीस बीघा जमीन खरीदी गयी। नयी जमीन के दक्षिणी ओर अवस्थित, एक उद्यान-भवन किराये पर लेकर, मठ को आलमबाजार से स्थानान्तरित कर अस्थायी तौर पर उसमें लाया गया। नयी जमीन में मन्दिर तथा मठ-भवन के निर्माण का शुभारम्भ हुआ।

पर्याप्त सावधानी के बाद भी स्वामीजी का स्वास्थ्य क्रमश: बिगड़ रहा था। डॉक्टरों की सलाह पर २० मार्च को वे पुन: दार्जिलिंग गये। कुछ दिनों बाद ही उन्हें कलकत्ते में प्लेग फैलने का समाचार मिला। कलकत्ते लौटकर वे प्लेग-निवारण के कार्य में जुट गये। शीघ्र ही स्वयंसेवक-दल का गठन, स्वास्थ्य-रक्षा की नियमावली और बस्तियों की सफाई, सेवा-शिविरों का निर्माण आदि कार्य शुरू हो गये। दल-के-दल नवयुवक सेवा का व्रत लेने को आगे आये।

एक गुरुभाई ने स्वामीजी से पूछा था, "इतना धन कहाँ से आएगा ?" उन्होंने बिना किसी हिचकिचाहट के उत्तर दिया, "क्यों ! जरूरत पड़ने पर मठ

की नयी जमीन बेच डालूँगा।'' 'रामकृष्ण मिशन' के उस जनहितकर कार्य के लिए पर्याप्त धनराशि मिल गयी, अत: जमीन नहीं बेचनी पड़ी। उस संकट की घड़ी में स्वामीजी एक देवदूत के समान अवतरित हुए थे। प्लेग शान्त हो गया।

हिमालय में एक आश्रम स्थापित करने की इच्छा से २२ मई को उन्होंने अल्मोड़ा की यात्रा की। साथ में पाश्चात्य शिष्य और शिष्याएँ भी थीं। सेवियर दम्पति को प्रोत्साहित कर उन्होंने उन्हें मायावती आश्रम के निर्माण में लगा दिया। भारत में व्यापक रूप से नारी-शिक्षा का श्रीगणेश करने के उद्देश्य से, १२ नवम्बर को स्वामीजी ने कलकत्ते में एक बालिका विद्यालय प्रारम्भ कर उसकी बागडोर निवेदिता के हाथ में सौंप दी। नारी-शिक्षा और नारी-उन्नयन के बिना भारत की भलाई होने की कोई सम्भावना नहीं है। वे कहा करते थे – ''पक्षी का एक पंख के सहारे उड़ना असम्भव है। नारियों की उन्नति होने पर ही भारत का ठीक-ठीक जागरण होगा।'' भारतीय नारी के आदर्श के बारे में उन्होंने कहा था – ''हे भारत ! मत भूलना कि तुम्हारी नारी-जाति का आदर्श सीता, सावित्री और दमयन्ती है।'' सतीत्व और मातृत्व के आदर्श को बचाये रखकर नारियों में जागृति लानी होगी, तभी उनका जीवन आलोकित होगा तथा भारत का भविष्य और भी उज्ज्वल होगा; पर साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि नारियों का वास्तविक कल्याण, नारियों द्वारा ही सम्पादित होगा। पुरुष इस विषय में केवल दूर से ही सहायता कर सकेंगे।



हिमालय के आश्रम को सुप्रतिष्ठित करने के बाद, स्वामीजी अपने पाश्चात्य शिष्यों को भारतीय धर्म व संस्कृति से परिचित कराने के उद्देश्य से उन्हें साथ लेकर काश्मीर-यात्रा को चल पड़े। काश्मीर के विभिन्न स्थानो में उन्होंने तीन महीने से भी अधिक समय बिताया। अन्य तीर्थयात्रियों के साथ वे भी अमरनाथ-दर्शन को गये। वहाँ वे केवल कौपीन धारण किये तुषारमय गुफा में जाकर ध्यानमग्न हो गये। सदाशिव अमरनाथ ने दर्शन देकर उन्हें इच्छा-मृत्यु का

वर दिया था। लौटते समय उन्होंने क्षीरभवानी में सात-दिन तक तपस्या की। काश्मीर की तीर्थयात्रा समाप्त कर स्वामीजी १८ अक्तूबर को बेलुड़ मठ लौट आये। काश्मीर में कठोर तप के फलस्वरूप उनका शरीर बहुत ही अस्वस्थ और दुर्बल हो गया था। पर उन्होंने उस पर ध्यान नहीं दिया।

मठ की नयी भूमि में निर्माणकार्य पूरा होते ही, ९ दिसम्बर को स्वामीजी ने स्वयं ही विविध उपचारों के साथ पूजा और होम आदि करने के बाद वहाँ भगवान् श्रीरामकृष्णदेव की चिरकाल के लिए प्रतिष्ठा की। बेलुड़ मठ महान् तीर्थक्षेत्र में परिणत हुआ। उन्होंने प्रार्थना की थी – "महायुगावतार श्रीरामकृष्ण बहुजन-हिताय बहुजनसुखाय इस पुण्यक्षेत्र में दीर्घकाल तक विराजित रहते हुए इस स्थान को सभी धर्मों का अपूर्व समन्वय-केन्द्र बनाये रखें।"

सारे जगत् का हित एवं श्रीरामकृष्ण-प्रवर्तित भावधारा का प्रचार करने के लिए वे बँगला में एक मासिक पत्रिका निकालने की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे। १४ जनवरी १८९९ ई. को, स्वामी त्रिगुणातीतानन्द के सम्पादन व संचालन में 'उद्‌बोधन' का प्रथम अंक प्रकाशित हुआ। बेलुड़ मठ में उन्होंने अपने गुरुभाइयों और शिष्यों की एक सभा की, जिसमें उन्होंने सभी को युगावतार श्रीरामकृष्णदेव की वाणी का सम्पूर्ण विश्व में प्रचार करने हेतु आह्वान किया। अपने दो शिष्यों – स्वामी विरजानन्द और स्वामी प्रकाशानन्द – को भी उन्होंने प्रचार करने ढाका भेज दिया।

□□□

१३. प्रचार-प्रसार

भारतवर्ष में स्वामीजी ने भाषण बहुत कम ही दिये। यहाँ पर उनका प्रमुख कार्य था भूमि तैयार करना – 'मनुष्य' निर्माण करना। भारत-भूमि पर शब्द-तरंगरूपी जो बीज उन्होंने बिखेरे थे, उसका फल हमें भारत की वर्तमान उन्नति में दिखता है। स्वामीजी ने जो जागरण का शंखनाद किया था, उसी के परिणामस्वरूप बीसवीं शताब्दी के भारत में परिवर्तन देखने में आते हैं। लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस और पण्डित नेहरू आदि नेताओं ने भारत के स्वाधीनता-आन्दोलन में जो भूमिका अदा की है, उसके पीछे प्रेरणा है – स्वाधीनता के ऋत्विक् स्वामी विवेकानन्द का सशक्त सन्देश और उनका आह्वान।*

सन् १९२१ ई. में स्वामीजी की जन्मतिथि पर बेलुड़ मठ में प्रदत्त एक भाषण में महात्मा गाँधी ने कहा था – "मैं यहाँ असहयोग आन्दोलन या चरखे का प्रचार करने नहीं आया हूँ। मैं स्वामी विवेकानन्द के जन्मदिवस पर उनकी पुण्यस्मृति में श्रद्धांजलि अर्पित करने आया हूँ। मैंने स्वामीजी के ग्रन्थ बड़े ही ध्यानपूर्वक पढ़े हैं और इसके फलस्वरूप देश के प्रति मेरा प्रेम और भी बढ़ गया हैं। युवकों से मेरा अनुरोध है कि स्वामी विवेकानन्द जहाँ निवास करते थे और जहाँ उन्होंने देहत्याग किया, वहाँ से कुछ प्रेरणा लिये बिना, खाली हाथ न

---

* नेताजी सुभाषचन्द्र बोस अपनी आत्मकथा में लिखते हैं – "मेरी आयु उस समय पन्द्रह वर्ष से भी कम थी, विवेकानन्द ने मेरे जीवन में प्रवेश किया और मेरे भीतर एक प्रचण्ड हलचल मच गयी, सब कुछ उलट-पलट गया। ... मेरी अस्थि-मज्जा में एक नव-जागरण का सूत्रपात हुआ। दिन-पर-दिन और महीने-पर-महीना मैं ध्यान लगाकर उनकी वाणी और रचनाएँ पढ़ता रहा। अपने पत्रों और भारतीय व्याख्यान-माला में उन्होंने स्वदेशवासियों को जो उपदेश दिये थे, उन सबने मुझे बहुत प्रभावित किया है।" उन्होंने और भी कहा है कि आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन के धर्मगुरु विवेकान्द ही हैं।

लौटे।'' महात्माजी की इस उक्ति से पता चलता है कि समकालीन एवं परवर्ती भारत के प्रमुख नेताओं पर स्वामीजी के जीवन और वाणी का कितना अधिक प्रभाव पड़ा है।

जन-साधारण की शिक्षा और उन्नति पर ही किसी भी देश का भाग्य निर्भर करता है। स्वामीजी ने कहा था – "याद रखो, प्रत्येक देश में ये ही राष्ट्र के मेरुदण्ड हैं। ... भारतीय राष्ट्र निर्धनों की कुटिया में बसता है। पर हाय ! उनके लिए कभी, किसी ने, कुछ भी नहीं किया।'' इसीलिए हम देखते हैं कि उन्होंने अपने शिष्यों को, अनाथालय, दातव्य-चिकित्सालय और जनशिक्षा-केन्द्र खोलकर दीन-दुखियों की सेवा करने की प्रेरणा दी और उत्साहित किया। वे और भी कहा करते थे – "जो धर्म गरीबों का दुःख दूर नहीं करता, वह भी क्या धर्म कहलाने के योग्य है ? श्रीरामकृष्णदेव का कहना था कि खाली पेट धर्म नहीं होता – सर्वप्रथम कूर्मदेवता की पूजा आवश्यक है। अतः अन्न की व्यवस्था करने के लिए ही मैं लोगों को रजोगुणी होने का उपदेश देता हूँ।'' वर्तमान युग की आवश्यकता के अनुसार विवेकानन्द ने दरिद्रनारायण की सेवा – नरनारायण की पूजा – में सभी का आवाहन किया है।



स्वामीजी की योजनाएँ एक-एक करके साकार हो रही थीं और यद्यपि वे सदा भारत के कल्याण का विचार कर रहे, थे, फिर भी पाश्चात्य देशों में अपने आरम्भ किये कार्यों की बात भी वे भूले नहीं थे। क्योंकि भारत की उन्नति भी बहुत-कुछ उसी की सफलता पर निर्भर थी। उनका स्वास्थ्य भी क्रमशः बिगड़ रहा था। अतः डाक्टरों की सलाह से वे पुनः समुद्र-यात्रा के लिये तैयार हुए। इस बार उन्होंने स्वामी तुरीयानन्द को साथ में लिया। निवेदिता ने भी अपने नारी-शिक्षाकार्य के लिए धन की व्यवस्था करने को उनके साथ ही इंग्लैंड जाने का निश्चय किया। २० जून १८९९ ई. को कलकत्ते से जहाज में बैठकर, मद्रास, कोलम्बो, अदन, नेपल्स और मासोई (मार्सेलस) होते हुए, ३१ जुलाई को वे

लन्दन पहुँचे। वहाँ मित्रों और शुभचिन्तकों की अपार भीड़ एकत्र हो गयी थी। पर इस बार उन्होंने लन्दन की किसी सभा आदि में व्याख्यान नहीं दिये। एक पक्ष के बाद १६ अगस्त को लन्दन से चलकर न्यूयार्क आये। इस बार उन्होंने अमेरिका में एक वर्ष बिताया। अधिकांश समय सैन फ्रांसिस्को, लास ऐंजेल्स और औकलैण्ड आदि अमेरिका के पश्चिमी भाग में रहते हुए उन्होंने पचास से भी अधिक व्याख्यान दिये। इस अंचल में अपने कार्य का प्रसार देखकर वे अतीव आनन्दित एवं सन्तुष्ट हुए।

अमेरिका और यूरोप की संगठन-शक्ति के पीछे जो हिंस्र-भोगलोलुपता, स्वार्थ, महत्त्वाकांक्षा और साम्राज्यवाद की लालसा छिपी हुई है, वह पश्चिम की इस द्वितीय यात्रा में, वे अच्छी तरह समझ गये। इस सन्दर्भ में उन्होंने निवेदिता से कहा था – "पश्चिम की जीवनयात्रा एक अट्टहास के समान है, जिसके भीतर छिपा है रुदन और उसकी परिसमाप्ति भी रुदन में ही होती है।"

२४ अक्तूबर को चार मित्रों के साथ पेरिस से चलकर वे विएना, हंगरी, सर्विया, रुमानिया, बल्गेरिया, कांस्टैनटिनोपल होते हुए मिस्र पहुँचे। इस बार उन्हें यूरोप का कोई भी नगर अच्छा नहीं लग रहा था। वे अपने हृदय में असीम की पुकार सुन रहे थे। इसीलिए वे भारत लौटने को व्यग्र हुए और सबसे पहले जो जहाज मिला उसी में भारत के लिए रवाना हो गये।

❑❑❑

१४. अन्तिम लीला

९ दिसम्बर १९०० ई. को रात में स्वामीजी अचानक बेलुड़ मठ में आ पहुँचे। ठीक डेढ़ वर्ष बाद वे जीर्ण देह और भग्न स्वास्थ्य लेकर भारत लौटे थे। मायावती आश्रम के संस्थापक कैप्टेन सेवियर के निधन का समाचार पाते ही श्रीमती सेवियर को इस असहनीय शोक में सान्त्वना देने हेतु वे मायावती जाने को तैयार हुए। गुरुभाई स्वामी सारदानन्द तथा शिष्य स्वामी सदानन्द को साथ लेकर भीषण ठंड और तुषारपात के बीच ३ जनवरी को वे मायावती पहुँचे। उन्हें देखकर श्रीमती सेवियर को थोड़ा ढाढ़स बँधा। सेवियर दम्पति ने अपने हृदय का रक्त देकर भारत की सेवा की है। वहाँ हिमालय के ध्यानमय वातावरण में वे पन्द्रह दिन रहे। बेलुड़ मठ लौटकर वे फिर अपने आदर्शों को मूर्त रूप देने में लग गये। भारत के सभी प्रान्तों से लोग उनसे मिलने आया करते थे। वे सभी को देश की सेवा में जीवन उत्सर्ग करने की प्रेरणा देते। उन्होंने कहा था – "इस बार केन्द्र है भारतवर्ष।"

पूर्वी बंगाल (अब बंगला देश) की जनता के विशेष आग्रह पर स्वामीजी ने कुछ संन्यासियों के साथ वहाँ की भी यात्रा की। इस बार उन्होंने चन्द्रनाथ, लांगलबन्ध और कामाख्या आदि तीर्थों का दर्शन कराने अपनी माता को भी साथ लिया था। ढाका में उनका महान् स्वागत हुआ और वहाँ उन्होंने दो व्याख्यान दिये। एक विशेष तिथि पर, अन्य सहयात्रियों के साथ जाकर, वे लांगलबन्ध में स्नान कर आये। बाद में चटगाँव के चन्द्रनाथ तीर्थ का दर्शन करते हुए, आसाम के गोआलपाड़ा और गौहाटी होकर कामाख्या-दर्शन को गये। सभी जगह उनका विशेष स्वागत और सम्मान हुआ। अस्वस्थ होने पर भी जनता का आग्रह देखकर गौहाटी में उन्होंने तीन व्याख्यान दिये। बाद में शिलाँग में कुछ दिन रहकर और कुछ व्याख्यान देने के बाद मई में वे बेलुड़ मठ वापस आये। स्वामीजी का शरीर जीर्ण हो चुका था पर उनका इस सान्ध्य-बेला का जीवन दिव्य माधुर्य से परिपूर्ण

था। विश्वविजयी, कर्मवीर, प्रसिद्ध वक्ता, देशभक्त विवेकानन्द मानो विदा ले रहे थे और उनके देह-मन में आगमन हो रहा था शिशुस्वभाव एक परमहंस का – उन्हीं नरेन्द्रनाथ का जो बीस वर्ष पूर्व दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के चरणों में बैठकर उनके उपदेश सुना करते, भजन गाया करते और उनके दिव्य प्रेम का आस्वादन किया करते थे। वे समझ गये थे – मेरी लीला अब समाप्त हो चुकी है। इसीलिए वे धैर्य के साथ अन्तिम दिन की प्रतीक्षा कर रहे थे। उस साल स्वामीजी ने शास्त्रविधान के अनुसार प्रतिमा में दुर्गापूजा, लक्ष्मीपूजा और कालीपूजा करायी। माँ काली के दर्शन करने वे कालीघाट गये। स्वयं अद्वैतवादी होते हुए भी स्वामीजी ने शास्त्रविहित देवी-देवताओं की पूजा-उपासना को उचित महत्त्व प्रदान किया।

मठ की जमीन में गरीब संथाल लोग कार्य कर रहे थे। एक दिन उन्हें पूड़ी-तरकारी, मिठाई, दही आदि के साथ तृप्तिपूर्वक भोजन कराने के बाद उन्होंने कहा – "ये लोग नारायण हैं। आज मैंने साक्षात् नारायण को भोग दिया है।" बाद में मठ के संन्यासी-ब्रह्मचारियों की ओर लक्ष्य कर कहा – "अहा ! देश के दीन-दुखियों के लिए कोई नहीं सोचता है। जो राष्ट्र की रीढ़ हैं, जिनकी मेहनत से अनाज पैदा होता है, ... उनके प्रति सहानुभूति रखनेवाला, उनके दुःख-शोक में हिस्सा बँटानेवाला कोई नहीं है। यही देखो न, मद्रास में हिन्दुओं की सहानुभूति न पाकर हजारों अछूत इसाई बन रहे हैं। ऐसा मत सोचना कि वे पेट के लिए ईसाई बन रहे हैं। हम जो रातदिन उन्हें कह रहे हैं – 'मुझे मत छुओ, मत छुओ !' अरे बाबा, देश में क्या दयाधर्म बचा भी है ? है सिर्फ छुआछूत-पन्थियों का दल। ऐसे आचार के मुँह पर झाड़ू मारो, लात मारो। ... इनके उठे बिना माँ नहीं जागेंगी।"

स्वामीजी के इस आह्वान का आज देश ने उत्तर दिया है। गरीबों का दुःख दूर करने, छुआछूत-निवारण और सामाजिक अत्याचार से दलित वर्गों की रक्षा के कार्य में आज देशवासी सक्रिय हुए हैं।

☆ ☆ ☆

मार्च का महीना ऐसे ही बीत गया। इहलोक में स्वामीजी के जीवन के सिर्फ तीन ही महीने बाकी थे। शय्याग्रस्त होने पर भी उनके मन में सदा भारत के पुनर्जागरण की चिन्ता लगी रहती थी। ११ जनवरी १८९५ ई. के दिन शिकागो से उन्होंने अपने एक मद्रासी शिष्य को लिखा था – "मैं मृत्युपर्यन्त निरन्तर कार्य करता रहूँगा। और मृत्यु के बाद भी संसार की 'भलाई' के लिए कार्य करता रहूँगा।"



स्वामीजी का कार्य विचार के क्षेत्र में भी था। जगत् की भलाई के लिए वे जो विचार छोड़ गये हैं। वे निश्चय ही कार्य रूप में परिणत होंगे। आगे आनेवाली पीढ़ियाँ, स्वामीजी द्वारा आरम्भ किये हुए कार्यों को पूरा करने का भार ग्रहण करेंगी। देहान्त के बाद भी उनकी अदृश्य भुजाएँ हजारों प्राणों में प्रेरणा के दीप जला देंगी और उनका कार्य अविराम गति से चलता रहेगा।

यद्यपि स्वामीजी महाप्रस्थान की तैयारी कर रहे थे, फिर भी अपने महाप्राण गुरुदेव के समान ही वे किसी भी याचक को निराश नहीं करते थे। वे कहते थे – "यदि अपने देशवासियों की आत्मा को जगाने में मुझे सैकड़ों बार मृत्यु-यातना सहन करनी पड़े, तो भी मैं पीछे नहीं हटूँगा।"

धीरे धीरे संसार के व्यापारों में वे उदासीन होने लगे। कभी कभी तो वे अति गम्भीर ध्यान में मग्न हो जाते। कामधाम के सम्बन्ध में उनकी सलाह माँगने पर वे कहते – "इन सब बातों में मैं अब और सिर नहीं खपाऊँगा।" उनका अन्तर्मुखी भाव देखकर गुरुभाइयों को शंका हुई। उन्हें स्मरण हो आयी श्रीरामकृष्ण की वह उक्ति – "नरेन्द्र जब अपना वास्तविक स्वरूप जान लेगा तो फिर इस देह को नहीं रखेगा।" एक दिन एक गुरुभाई पूछ ही बैठे, "स्वामीजी ! क्या आप जान गए हैं कि आप कौन हैं ?" स्वामीजी ने तुरन्त ही गम्भीर स्वर में उत्तर दिया, "हाँ, जान गया हूँ।" जिस अनुभूति के द्वार पर श्रीरामकृष्णदेव ने ताला लगा दिया था, उसे अब समय आ गया देख उन्होंने खोल दिया था।

देह त्यागने के एक सप्ताह पूर्व उन्होंने अपने एक सेवक को पंचांग लाने का आदेश दिया और स्वयं ही उसे देखकर अपने महाप्रस्थान का दिन निश्चित किया। सदाशिव अमरनाथ ने उन्हें इच्छामृत्यु का वरदान जो दिया था। देहत्याग के तीन दिन पहले सायंकाल मठ-प्रांगण में टहलते समय एक स्थान की ओर (जहाँ बाद में उनका समाधि-मन्दिर बना) दिखाते हुए, उन्होंने अपने एक शिष्य से कहा था – "मेरा देहान्त होने पर वहाँ मेरा अन्तिम संस्कार करना।" अन्तिम दिनों में उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा प्रतीत होता था। उनका चित्त सदा प्रफुल्लित रहता था तथा देहकान्ति अनुपम हो गयी थी। उस समय किसे पता था कि उनका अन्तिम दिन इतना समीप आ गया है ?

४ जुलाई १९०२ ई., शुक्रवार वे खूब तड़के उठे। लगभग आठ बजे श्रीठाकुर के मन्दिर में गये और अन्दर से दरवाजे-खिड़कियाँ सब बन्द करके ध्यान में बैठे। ग्यारह बजे तक वे गम्भीर ध्यान में मग्न रहे। उन्हें इतनी देरी तक ध्यान करते देख उनके गुरुभाइयों को बड़ी चिन्ता हुई। मन्दिर से लौटकर वे माँ-काली का एक भजन गाते हुये बरामदे में टहलने लगे। उस समय उनमें एक अद्‌भुत भाव प्रकट हो रहा था। स्वामी प्रेमानन्द पास में ही थे। उन्होंने सुना स्वामीजी कह रहे हैं – "यदि एक और विवेकानन्द होता, तो समझ पाता कि विवेकानन्द क्या कर गया है !" सुनकर प्रेमानन्दजी चिन्तित हो गये, पर उनका गम्भीर भाव देखकर उन्हें कुछ पूछने का साहस नहीं हुआ।

दोपहर में भोजन और थोड़ा-सा विश्राम करने के बाद एक बजे से उन्होंने ब्रह्मचारियों को लगातार तीन घण्टे तक संस्कृत-व्याकरण पढ़ाया। शाम को स्वामी प्रेमानन्द के साथ बेलुड़ बाजार तक घूम आये। रास्ते में वेद-विद्यालय की स्थापना के बारे में बहुत-सी बातें हुईं। अँधेरा होने के पूर्व ही वे मठ लौट आये। मन्दिर में आरती का घण्टा बजने पर स्वामीजी दूसरी मंजिल पर अपने कमरे में जाकर गंगा की ओर निहारते खड़े हो गये। सामने गंगा के उस पार दीख रहा था काशीपुर का वही श्मशान-घाट, जहाँ पर श्रीरामकृष्णदेव के शरीर का दहन किया गया था। सेवक ब्रह्मचारी को बाहर बैठकर जप करने का आदेश देकर वे

स्वयं पूर्व की ओर मुख करके ध्यान में बैठे। उनकी दृष्टि स्थिर थी – दोनों भौंहों के बीच और मुखमण्डल पर स्वर्णिम ज्योति विराज रही थी। उनका मन क्रमशः महासमाधि के द्वारा आत्मस्वरूप में लीन हो गया। उस समय रात के ९ बजकर १० मिनट हुए थे।

दूसरें दिन शोभायात्रा के साथ उनका पार्थिव देह बेलुड़ मठ के ही दक्षिण-पूर्वी किनारे पर अवस्थित बिल्व-वृक्ष के पास लाया गया और गंगातट पर उन्हीं के द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर चन्दन आदि काष्ठ से चिता सजायी गयी। वेदपाठ और स्तवन-वन्दना आदि के बीच उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया समाप्त हुई।



स्वामी विवेकानन्द की आत्मा देह-पिंजर से मुक्त होकर असीम में विलीन हो गयी है। पर वे जगत् के लिए छोड़ गये हैं अपना अमोघ-सन्देश – वेदान्त का, आत्मा के अमरत्व का, तथा साम्य-मैत्री-स्वाधीनता और विश्व-भ्रातृत्व का सन्देश। स्वामीजी न केवल बंगाल के थे और न केवल भारतवर्ष के – वे समग्र जगत् के थे। सर्वस्वत्यागी संन्यासी होने पर भी उनके हृदय में जिस स्वदेशप्रेम एवं विश्वमैत्री का विकास हुआ था वह अभूतपूर्व था। वे विराट् के पुजारी थे। उनके ईश्वर किसी मन्दिर-विशेष में प्रतिष्ठित नहीं थे – वे प्रत्येक मानव के हृदय-मन्दिर में निवास करते थे। देशभक्ति, मानवसेवा और ईश्वर-आराधना – तीनों उनकी दृष्टि में समान थे। भारतवर्ष की सामूहिक भलाई के लिए उन्होंने कहा था – "अगले पचास वर्षों के लिए देश की सेवा ही तुम्हारी साधना हो, राष्ट्रदेवता ही तुम्हारे एकमात्र आराध्य हो।" स्वामीजी की इस वाणी के भीतर निहित था देशप्रेम और राष्ट्रीयता का बीज; इसीलिए तो इस आह्वान का महान् फल हुआ। देशसेवा का यह महामन्त्र, हजारों प्राणों में संचरित होकर राष्ट्रीय जागरण के विविध क्षेत्रों में स्फुरित हुआ है। और उसी के फलस्वरूप पचास वर्ष के भीतर ही भारतवर्ष ने अपनी राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त कर ली। परन्तु भारतीय जनता अभी भी अपनी घोर तन्द्रा से उठ नहीं सकी है – अभी तक

दुःख, दैन्य, अशिक्षा और अस्वास्थ्य ने उसे घेर रखा है। जनसाधारण की उन्नति होने पर ही भारत का यथार्थ जागरण होगा। इस जागरण के नायक हैं स्वामी विवेकानन्द।

भारत के लिए उनका सन्देश है – "हे भारत ! मत भूलना कि तुम्हारी नारी-जाति का आदर्श है सीता, सावित्री, दमयन्ती; मत भूलना कि तुम्हारे उपास्य सर्वत्यागी उमानाथ शंकर है; मत भूलना कि तुम्हारा विवाह, तुम्हारा धन, तुम्हारा जीवन इन्द्रियसुख के लिए – अपने व्यक्तिगत सुख के लिए नहीं है; मत भूलना कि तुम आजन्म 'माता' के लिए बलिस्वरूप रखे हुए हो; मत भूलना कि नीच, अज्ञानी, दरिद्र, चमार और मेहतर तुम्हारे रक्त, तुम्हारे भाई हैं। हे वीर ! साहस का अवलम्बन करो, गर्व के साथ कहो – मैं भारतवासी हूँ, भारतवासी मेरे भाई हैं, ... ब्राह्मण-भारतवासी, चाण्डाल-भारतवासी मेरे भाई हैं; भारतवासी मेरे प्राण हैं, भारत के देवी-देवता मेरे भगवान हैं, भारत का समाज मेरे बचपन का बिछौना, मेरे यौवन का उपवन और मेरे बुढ़ापे की वाराणसी है, बोलो भाई, भारत की मिट्टी मेरा स्वर्ग है, भारत का कल्याण मेरा कल्याण है; और रात-दिन कहते रहो – हे गौरीनाथ ! हे जगदम्बे ! मुझे मनुष्यत्व दो; माँ ! मेरी दुर्बलता, मेरी कापुरुषता दूर कर दो, मुझे मनुष्य बना दो।"

ॐ शान्तिः ! शान्तिः ! शान्तिः !!

❑❑❑

उपदेश

ईश्वर, धर्म तथा नीति –

१. प्रत्येक जीव अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्त:प्रकृति को वशीभूत करके स्वयं के इस अन्तर्निहित ब्रह्मस्वरूप को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है।

कर्म, उपासना, मन:संयम अथवा ज्ञान, इनमें से एक, एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपने ब्रह्मभाव को व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ।

बस, यही धर्म का सर्वस्व है। मत, अनुष्ठान-पद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा अन्य बाह्य क्रियाकलाप तो उसके गौण अंग-प्रत्यंग मात्र हैं।

२. धर्म वह वस्तु है, जिससे पशु मनुष्य तक और मनुष्य परमात्मा तक उठ सकता है।

३. धर्म मतवाद या बौद्धिक तर्क में नहीं है, वरन् आत्मा के ब्रह्मत्व को जान लेना, तद्रूप हो जाना – उसका साक्षात्कार, यही धर्म है।

४. धर्म कल्पना की नहीं, प्रत्यक्ष दर्शन की चीज है। जिसने एक भी महान् आत्मा के दर्शन कर लिये, वह अनेक किताबी पण्डितों से बढ़कर है।

५. बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करना बहुत अच्छी और बड़ी बात है, पर अन्त:प्रकृति को जीत लेना इससे भी बड़ी बात है। ... अपने भीतर के 'मनुष्य' को वश में कर लो, मानव-मन के सूक्ष्म कार्यों के रहस्य को समझ लो और उसके आश्चर्यजनक गुप्त भेद को अच्छी तरह जान लो – ये बातें धर्म के साथ अच्छेद्य भाव से सम्बद्ध हैं।

६. यदि ईश्वर हैं, तो हमें उन्हें देखना चाहिए; यदि आत्मा है, तो हमें उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति कर लेनी चाहिए; अन्यथा उन पर विश्वास न करना ही अच्छा है। ढोंगी बनने की अपेक्षा स्पष्ट रूप से नास्तिक बनना अच्छा हैं।

७. हीरों की खान को छोड़कर काँच की मणियों के पीछे मत दौड़ो। यह जीवन एक अमूल्य अवसर है। क्या, तुम सांसारिक सुखों की खोज कर रहे हो? – प्रभु ही समस्त सुख के स्रोत हैं। उन्हीं उच्चतम को खोजो, उन्हीं को अपना लक्ष्य बनाओ और तुम अवश्य उन्हें प्राप्त करोगे।

८. मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए उत्पन्न हुआ हैं, उसका अनुसरण करने के लिए नहीं।

९. तुमको अन्दर से बाहर विकसित होना है।कोई तुमको न सिखा सकता है, न आध्यात्मिक बना सकता है।

१०. जो मनुष्य किसी भौतिक वस्तु से विचलित नहीं होता, उसने अमरता पा ली।

११. विश्व में केवल एक आत्मतत्त्व है, सब कुछ केवल उसी की अभिव्यक्तियाँ हैं।

१२. ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म – ये चार मार्ग मुक्ति की ओर ले जानेवाले हैं। हर एक को उस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए, जिसके लिए वह योग्य है; लेकिन इस युग में कर्मयोग पर विशेष बल देना चाहिए।

१३ सत्य के लिए सब कुछ त्यागा जा सकता है, पर सत्य को किसी भी चीज के लिए छोड़ा नहीं जा सकता, उसकी बलि नहीं दी जा सकती।

१४. जब तक भौतिकता नहीं जाती, तब तक आध्यात्मिकता तक नहीं पहुँचा जा सकता।

१५. तुम सदैव कह सकते हो कि प्रतिमा ईश्वर है। केवल यही सोचने की भूल से बचना कि ईश्वर प्रतिमा है।

१६. मनुष्य और परमेश्वर की व्याख्या – मनुष्य एक असीम वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है, लेकिन जिसका केन्द्र एक स्थान में निश्चित है; परमेश्वर एक ऐसा असीम वृत्त है, जिसकी परिधि कही नहीं है, परन्तु जिसका केन्द्र सर्वत्र है।

१७. सुर तथा असुर में और कुछ भेद नहीं – भेद केवल निःस्वार्थ तथा

स्वार्थ में है। असुर भी उतना ही जानता है, जितना सुर, उसमें बस पवित्रता नहीं होती – इससे वह असुर बन जाता है। आधुनिक संसार पर यही भावना लागू करो। अपवित्र ज्ञान और शक्ति का अतिरेक मनुष्यों को असुर बना देता है।

१८. पुण्य वह है, जो हमारी उन्नति में सहायता करता है और पाप हमारे पतन में। मनुष्य तीन प्रकार के गुणों से निर्मित है – पाशविक, मानवीय और दैवी। जो तुममें दैवी गुण बढ़ाता है वह पुण्य है और जो तुममें पशुता बढ़ाता है वह पाप है।

१९. परोपकार ही धर्म है; परपीड़न पाप। शक्ति और पौरुष पुण्य हैं, कमज़ोरी और कायरता पाप। स्वतन्त्रता पुण्य है, पराधीनता पाप। दूसरों से प्रेम करना पुण्य है, दूसरों से घृणा करना पाप। परमात्मा में और अपने आप में विश्वास पुण्य है; सन्देह ही पाप है। एकता का ध्यान पुण्य है; अनेकता देखना ही पाप।

२०. मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि कपट से जगत् में कोई महान् कार्य नहीं होता।

प्रेम और निःस्वार्थता –

२१. शुद्ध बनना और दूसरों की भलाई करना ही सब उपासनाओं का सार है। जो गरीबों, निर्बलों और पीड़ितों में शिव को देखता है, वही वास्तव में शिव का उपासक हैं; पर यदि वह केवल मूर्ति में ही शिव को देखता हैं, तो यह उसकी उपासना का आरम्भ मात्र है।

२२. निःस्वार्थता ही ईश्वर है। एक मनुष्य चाहे रत्नखचित सिंहासन पर आसीन हो और सोने के महल में रहता हो, परन्तु यदि वह पूर्ण रूप से निःस्वार्थ है तो वह ब्रह्म में ही स्थित है। परन्तु दूसरा मनुष्य चाहे झोपड़ी में ही क्यों न रहता हो, चिथड़े ही क्यों न पहनता हो, सर्वथा दीनहीन ही क्यों न हो, पर यदि वह स्वार्थी है, तो हम कहेंगे कि वह संसार में घोर रूप से लिप्त है।

२३. निःस्वार्थता ही धर्म की कसौटी है। जो जितना अधिक निःस्वार्थ है, वह उतना ही अधिक आध्यात्मिक और शिव के समीप है ...। और यदि वह

स्वार्थी है, तो उसने चाहे सभी मन्दिरों में दर्शन किये हों, चाहे सभी तीर्थों का भ्रमण किया हो, ... फिर भी वह शिव से बहुत दूर है।

२४. प्रेम – केवल प्रेम का ही मैं प्रचार करता हूँ और मेरे उपदेश वेदान्त की समता और आत्मा की विश्वव्यापकता – इन्ही सत्यों पर प्रतिष्ठित हैं।

२५. मनुष्य अल्पायु है और संसार की सब वस्तुएँ वृथा तथा क्षणभंगुर हैं; पर वे ही जीवित हैं, जो दूसरों के लिए जीते हैं; शेष सब तो जीवित की अपेक्षा मृत ही अधिक हैं।

२६. हे वत्स, प्रेम कभी विफल नहीं होता; आज, कल या युगों के पश्चात् कभी-न-कभी सत्य की विजय निश्चित होगी। प्रेम विजय प्राप्त करेगा। क्या तुम अपने साथियों से प्रेम करते हो ?

२७. विकास ही जीवन और संकुचन ही मृत्यु है। प्रेम ही विकास और स्वार्थपरता संकुचन है। इसलिए प्रेम ही जीवन का मूलमन्त्र है। प्रेम करनेवाला ही जीता है और स्वार्थी मरता रहता है। इसलिए प्रेम ही के लिए प्रेम करो।

२८. जहाँ यथार्थ धर्म है, वहीं प्रबलतम आत्मबलिदान है। अपने लिए कुछ मत चाहो, दूसरों के लिए ही सब कुछ करो – यही है ईश्वर में तुम्हारे जीवन की स्थिति, गति तथा प्राप्ति।

श्रद्धा और बल –

२९. जिसमें आत्मविश्वास नहीं, वही नास्तिक है। प्राचीन धर्मों में कहा गया है, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता वह नास्तिक है। अभिनव धर्म कहता है, जो आत्मविश्वास नहीं रखता वहीं नास्तिक है।

३०. विश्वास – विश्वास ! अपने आप पर विश्वास, परमात्मा के ऊपर विश्वास – यही उन्नति का एकमात्र उपाय है। यदि पुराणों में कहे गये तैंतीस करोड़ देवताओं के ऊपर और विदेशियों ने बीच-बीच में जिन देवताओं को तुम्हारे बीच घुसा दिया है, उन सब पर भी तुम्हारा विश्वास हो और अपने आप पर विश्वास न हो, तो तुम कदापि मुक्ति के अधिकारी नहीं हो सकते।

३१. तुम जो कुछ सोचोगे, वही हो जाओगे; यदि तुम अपने को दुर्बल समझोगे, तो दुर्बल हो जाओगे; बलवान सोचोगे तो बलवान बन जाओगे।

३२. तुम तो ईश्वर की सन्तान हो, अमर आनन्द के भागीदार हो, पवित्र और पूर्ण आत्मा हो। तुम इस मर्त्यभूमि पर देवता हो। तुम भला पापी ! मनुष्य को पापी कहना ही पाप है, वह मानवस्वभाव पर घोर लांछन है ! उठो ! आओ ! ए सिंहो ! इस मिथ्या भ्रम को झटककर दूर फेंक दो कि तुम भेड़ हो, तुम तो जरा-मरणरहित नित्यानन्दमय आत्मा हो।

३३. मनुष्य को सदैव उसकी दुर्बलता की याद कराते रहना उसकी दुर्बलता का प्रतिकार नहीं है – बल्कि उसे अपने बल का स्मरण करा देना ही उसके प्रतिकार का उपाय है। उनमें जो बल पहले से ही विद्यमान है उसका उन्हें स्मरण कराओ।

३४. उपनिषदों में यदि कोई एक ऐसा शब्द है जो वज्र-वेग से अज्ञानराशि के ऊपर पतित होता है, उसे बिलकुल उड़ा देता है, तो वह है 'अभी:' – निर्भयता।

३५. तुम देख सकते हो कि मैंने उपनिषदों के अतिरिक्त कही अन्यत्र से उद्धरण कभी नहीं दिये; उपनिषदों से भी केवल 'बल' का आदर्श ही। वेद एवं वेदान्त का समस्त सार तथा अन्य सब कुछ इस एक शब्द में निहित है।

३६. यह एक बड़ा सत्य है कि बल ही जीवन है और दुर्बलता ही मरण। बल ही अनन्त सुख है, चिरन्तन और शाश्वत जीवन है और दुर्बलता ही मृत्यु।

शिक्षा एवं समाज –

३७. शिक्षा का अर्थ है उस पूर्णता को व्यक्त करना जो सब मनुष्यों में पहले से विद्यमान है।

३८. शिक्षा क्या है ! क्या वह किताबी-विद्या है ? नहीं ! क्या वह नाना प्रकार का ज्ञान है ? नहीं, यह भी नहीं। जिस संयम के द्वारा इच्छाशक्ति का प्रवाह और विकास वश में लाया जाता है और फलदायक होता है, वही शिक्षा कहलाती है।

३९. जो शिक्षा साधारण व्यक्ति को जीवन-संग्राम में समर्थ नहीं बना सकती, जो मनुष्य में चरित्र-बल, परहित-भावना तथा सिंह के समान साहस नहीं ला सकती, वह भी कोई शिक्षा है ? जिस शिक्षा के द्वारा जीवन में अपने पैरों पर खड़ा हुआ जाता है, वही है शिक्षा।

४०. हर एक व्यक्ति हुकूमत जताना चाहता है। पर आज्ञा पालन करने के लिए कोई भी तैयार नहीं है। और यह सब इसलिए है कि प्राचीन काल के उस अद्‌भुत ब्रह्मचर्य आश्रम का अब पालन नहीं किया जाता। पहले आदेश पालन करना सीखों, आदेश देना फिर स्वयं ही आ जाएगा। पहले सर्वदा दास होना सीखो, तभी तुम प्रभु हो सकोगे।

४१. हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जिससे चरित्र-निर्माण हो, मानसिक शक्ति बढ़े, बुद्धि विकसित हो, और मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा होना सीखे।

४२. देखा, एकमात्र ब्रह्मचर्य का ठीक ठीक पालन कर सकने पर सभी विद्याएँ बहुत ही कम समय में हस्तगत हो जाती हैं – मनुष्य श्रुतिधर, स्मृतिधर बन जाता है। ब्रह्मचर्य के अभाव से ही हमारे देश का सब कुछ नष्ट हो गया।

४३. प्रत्येक मनुष्य एवं प्रत्येक राष्ट्र को बड़ा बनाने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं –

१. सौजन्य की शक्ति में दृढ़ विश्वास
२. ईर्ष्या और सन्देह का अभाव
३. जो सन्मार्ग पर चलने में और सत्कर्म करने में संलग्न हो, उनकी सहायता करना।

४४. दूसरों में बुराई न देखो, बुराई अज्ञान है, दुर्बलता है। लोगों को यह बताने से क्या लाभ कि वे दुर्बल हैं ! आलोचना और खण्डन से कोई लाभ नहीं होता। हमें उन्हें ऊँची वस्तु देनी चाहिए; उन्हें उनके गरिमामय स्वरूप की, उनके जन्मसिद्ध अधिकार की बात बताओ।

भारत –

४५. हमारा पवित्र भारतवर्ष धर्म एवं दर्शन की पुण्य भूमि है। यहीं बड़े बड़े महात्माओं तथा ऋषियों का जन्म हुआ है, यही संन्यास एवं त्याग की भूमि है तथा यहीं – केवल यहीं आदिकाल से लेकर आज तक मनुष्य के लिए जीवन के सर्वोच्च आदर्श एवं मुक्ति का द्वार खुला हुआ है।

४६. प्रत्येक राष्ट्र की एक विशिष्टता होती है, अन्य सब बातें उसके बाद आती हैं। भारत की विशिष्टता धर्म हैं। समाजसुधार और अन्य सब बातें गौण हैं।

४७. मैं समझता हूँ कि हमारा सबसे बड़ा राष्ट्रीय पाप जनसमुदाय की उपेक्षा हैं, और वह भी हमारे पतन का एक कारण है। भारत में दो बड़ी बुरी बातें हैं। स्त्रियों का तिरस्कार और गरीबों को जाति-भेद द्वारा पीसना।

४८. हमारे दो दोष बड़े ही प्रबल हैं; पहला दोष हमारी दुर्बलता हैं, दूसरा है घृणा करना, हृदयहीनता। तुम लाखों मत-मतान्ततरों की बात कह सकते हो, करोड़ों सम्प्रदाय संगठित कर सकते हो, परन्तु जब तक उनके दुःख का अपने हृदय में अनुभव नहीं करते, वैदिक उपदेशों के अनुसार जब तक स्वयं नहीं समझते कि वे तुम्हारे ही शरीर के अंग हैं; जब तक तुम और वे, धनी और दरिद्र, साधु और असाधु – सभी उसी एक अनन्त पूर्ण के, जिसे तुम ब्रह्म कहते हो, अंश नहीं हो जाते, तब तक कुछ न होगा।

४९. निन्दावाद को एकदम छोड़ दो। तुम्हारा मुँह बन्द हो और हृदय खुल जाय। इस देश और सारे जगत् का उद्धार करो। तुम लोगों में से प्रत्येक को यह सोचना होगा कि सारा भार तुम्हारे ही ऊपर है। वेदान्त का आलोक घर घर ले जाओ, घर घर में वेदान्त के आदर्श पर जीवन गठित हो। प्रत्येक जीवात्मा में जो ईश्वरत्व अन्तर्निहित है, उसे जगाओ।

५०. अपने स्नायु को बलवान् बनाओ। हमें लोहे के पुट्ठे और फौलाद के स्नायु की आवश्यकता है। हम लोग बहुत दिन रो चुके। अब और रोने की आवश्यकता नहीं है। अब अपने पैरों पर खड़े हो जाओ और मनुष्य बनो।

५१. दृढ़चित्त बनो; और इससे भी बढ़कर पूर्ण पवित्र तथा कपटशून्य

बनो; विश्वास रखो कि तुम्हारा भविष्य अत्यन्त गौरवपूर्ण है। ... जिनके पास धन-दौलत नहीं है, जो गरीब हैं, केवल उन्हीं लोगों का भरोसा है, और चूँकि तुम गरीब हो, इसीलिए तुम कपटता से शून्य हो सकते हो और अकपट होने के कारण ही तुम सब कुछ त्याग करने के लिए तैयार हो सकते हो।

५२. उत्साह से हृदय को भर लो और सब जगह फैल जाओ। काम करो, काम करो। नेतृत्व करते समय सबके दास हो जाओ, नि:स्वार्थ होओ और कभी एक मित्र को पीठ पीछे दूसरे की निन्दा करते मत सुनो। अनन्त धैर्य रखो, तभी सफलता तुम्हारे हाथ आएगी। ... सतर्क रहो ! जो कुछ असत्य है, उसे पास न फटकने दो। सत्य पर डटे रहो, बस तभी हम सफल होंगे – शायद थोड़ा अधिक समय लगे, पर सफल हम अवश्य होंगे। इस तरह काम करते जाओ कि मानो मैं कभी था ही नहीं। इस तरह काम करो कि मानो तुममें से हर एक के ऊपर सारा काम निर्भर है। भविष्य की पचास सदियाँ तुम्हारी ओर ताक रही हैं – भारत का भविष्य तुम पर निर्भर है ! काम करते जाओ।

५३. एकमात्र श्रीरामकृष्णदेव के चरणों में बैठने पर ही भारत उन्नत हो सकेगा। विगत कई शताब्दियों में कभी भी इतनी महान् और अद्भुत शक्ति का विकास नहीं हुआ था। भारत के पुनरुत्थान के लिए ही ठीक समय पर इस महाशक्ति का प्रादुर्भाव हुआ है।

स्त्रीशिक्षा –

५४. पहले वर्तमान दशा से स्त्रियों का उद्धार करना होगा। सर्वसाधारण को जगाना होगा; तभी तो भारत का कल्याण होगा।

५५. इस देश में पुरुष और स्त्रियों में इतना अन्तर क्यों समझा जाता है, यह समझना कठिन है। वेदान्तशास्त्र में कहा हैं कि एक ही चित्-सत्ता सर्वभूतों में विद्यमान है। तुम लोग स्त्रियों की निन्दा ही करते हो। उनकी उन्नति के लिए तुमने क्या किया, बोलो तो !

५६. स्त्रियों की पूजा करके सभी जातियाँ बड़ी बनी हैं। जिस देश में, जिस जाति में स्त्रियों की पूजा नहीं, वह देश, वह जाति न कभी बड़ी बन सकी और

न कभी बन ही सकेगी। महामाया की साक्षात मूर्ति – इन स्त्रियों का उत्थान हुए बिना क्या तुम लोगों की उन्नति सम्भव है ?

५७. उनकी समस्याएँ बहुत-सी हैं और गम्भीर हैं, पर उनमें एक भी ऐसा नहीं है, जो जादूभरे शब्द 'शिक्षा' से हल न की जा सकती हों। पहले अपनी स्त्रियों को शिक्षा दो, उन्हें उनकी स्थिति पर छोड़ दो, तब वे तुम्हें बताएँगी कि उनके लिए क्या सुधार आवश्यक है। हमें नारियों को ऐसी स्थिति में पहुँचा देना चाहिए, जहाँ वे अपनी समस्या को अपने ढंग से स्वयं सुलझा सकें। स्त्री-जाति की समस्याओं को हल करने के लिए आगे बढ़नेवाले तुम हो कौन ? क्या तुम भगवान् हो ... ? दूर हट जाओ !

५८. स्त्रियाँ जब शिक्षित होंगी, तभी तो उनकी सन्तानों द्वारा देश का मुख उज्ज्वल होगा और देश में विद्या, ज्ञान, शक्ति, भक्ति जाग उठेगी।

मानव : अपना भाग्यनिर्माता –

५९. अपनी वर्तमान अवस्था के जिम्मेदार हम ही है; और जो कुछ हम होना चाहे, उसकी शक्ति भी हमीं में है। यदि हमारी वर्तमान अवस्था हमारे ही पूर्व कर्मों का फल है; तो यह निश्चित है कि जो कुछ हम भविष्य में होना चाहते हैं, वह हमारे वर्तमान कार्यों द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है।

६०. तुम तो ईश्वर की सन्तान हो, अमर आनन्द के भागी हो, पवित्र और पूर्ण आत्मा हो। अतएव तुम कैसे अपने को जबरदस्ती दुर्बल कहते हो ? उठो, साहसी बनो, वीर्यवान होओ। सब उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर लो – यह याद रखो कि तुम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हो। तुम जो कुछ बल या सहायता चाहो, सब तुम्हारे ही भीतर विद्यमान है।

६१. अपने हाथों अपना भविष्य गढ़ डालो। 'गतस्य शोचना नास्ति' – सारा भविष्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है। तुम सदैव यह बात स्मरण रखो कि जिस प्रकार तुम्हारे असत्-विचार और असत्-कार्य शेरों की तरह तुम पर कूद पड़ने की ताक में हैं, उसी प्रकार तुम्हारे सत्-विचार और सत्-कार्य भी हजारों देवताओं की शक्ति लेकर सर्वदा तुम्हारी रक्षा के लिए तैयार हैं।

६२. दुर्भाग्य की बात है कि अधिकांश व्यक्ति इस जगत् में बिना किसी आदर्श के ही जीवन के इस अन्धकारमय पथ पर भटकते फिरते हैं। जिसका एक निर्दिष्ट आदर्श है, वह यदि एक हजार भूलें करे तो यह निश्चित है कि जिसका कोई भी आदर्श नहीं वह दस हजार भूलें करेगा। अतएव एक आदर्श रखना अच्छा है।

६३. दुनिया तभी पवित्र और अच्छी हो सकती है, जब हम स्वयं पवित्र और अच्छे हों। वह है कार्य और हम हैं उसके कारण। इसलिए आओ, हम अपने आपको पवित्र बना लें ! आओ, हम अपने आपको पूर्ण बना लें !

६४. मेरा आदर्श अवश्य ही थोड़े से शब्दों में कहा जा सकता है और वह है – मनुष्यजाति को उसके दिव्य स्वरूप का उपदेश देना तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसे प्रकट करने का उपाय बताना।

६५. पवित्रता, धैर्य और अध्यवसाय, इन्हीं तीनों गुणों से सफलता मिलती है, और सर्वोपरि है प्रेम।

६६. सदा विस्तार करना ही जीवन है और संकुचन मृत्यु। जो अपना ही स्वार्थ देखता है, आराम-तलब है, आलसी है, उसके लिए नरक में भी जगह नहीं है।

६७. बिना किसी बदले की आशा से संसार में भेजा गया प्रत्येक शुभ विचार संचित होता जाएगा – वह हमारे पैरों की एक बेड़ी को काट देगा और हमें अधिकाधिक पवित्र बनाता जाएगा, जब तक कि हम पवित्रतम मनुष्य के रूप में परिणत नहीं हो जाते।

वर्तमान कर्तव्य –

६८. इस समय चाहिए – प्रबल कर्मयोग, हृदय में अमित साहस, अपरिमित शक्ति।

६९. अपने तन, मन और वाणी को 'जगद्धिताय' अर्पित करो। तुमने पढ़ा है, 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव' – 'अपनी माता को ईश्वर समझो, अपने पिता को ईश्वर समझो', परन्तु मैं कहता हूँ, दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव – गरीब,

निरक्षर, मूर्ख और दुःखी इन्हें अपना ईश्वर मानो। इनकी सेवा करना ही परम धर्म समझो।

७०. मनुष्य, केवल मनुष्य भर चाहिए। बाकी सब कुछ अपने आप हो जाएगा। आवश्यकता है वीर्यवान, तेजस्वी, श्रद्धासम्पन्न और दृढ़विश्वासी निष्कपट नवयुवकों की। ऐसे सौ मिल जाएँ, तो संसार का कायाकल्प हो जाय। पहले उनका जीवन-निर्माण करना होगा, तब कहीं काम होगा।

७१. हमेशा बढ़ते चलो ! मरते दम तक गरीबों और पददलितों के लिए सहानुभूति – यही हमारा आदर्शवाक्य है। वीर युवको ! बढ़े चलो ! ईश्वर के प्रति आस्था रखो। किसी चालबाजी की आवश्यकता नहीं, उससे कुछ नहीं होता। दुखियों का दर्द समझो और ईश्वर से सहायता की प्रार्थना करो – वह अवश्य मिलेगी। ... युवको ! मैं गरीबों, मूर्खों और उत्पीड़ितों के लिए इस सहानुभूति और प्राणपण प्रयत्न को थाती के तौर पर तुम्हें अर्पण करता हूँ। ... प्रतिज्ञा करो कि अपना सारा जीवन इन तीस करोड़ लोगों के उद्धार-कार्य में लगा दोगे, जो दिनोंदिन अवनति के गर्त में गिरते जा रहे हैं। यदि तुम सचमुच मेरी सन्तान हो, तो तुम किसी वस्तु से न डरोगे, न किसी बात पर रुकोगे। तुम सिंहतुल्य होगे। हमें भारत को और पूरे संसार को जगाना है।

७२. आगे बढ़ो। हमे अनन्त शक्ति, अनन्त उत्साह, अनन्त साहस तथा अनन्त धैर्य चाहिए, तभी महान् कार्य सम्पन्न होगा।

७३. मेरे बच्चे, मैं जो चाहता हूँ वह है लोहे की नसें और फौलाद के स्नायु, जिनके भीतर ऐसा मन वास करता हो, जो कि वज्र के समान पदार्थ का बना हो। बल, पुरुषार्थ, क्षात्रवीर्य और ब्रह्मतेज !

७४. आज्ञापालन के गुण का अनुशीलन करो, लेकिन अपने धर्मविश्वास को न खोओ। गुरुजनों के अधीन हुए बिना कभी भी शक्ति केन्द्रीभूत नहीं हो सकती, और बिखरी हुई शक्तियों को केन्द्रीभूत किये बिना कोई महान् कार्य नहीं हो सकता।

७५. नीतिपरायण तथा साहसी बनो, अन्तःकरण पूर्णतया शुद्ध रखना

चाहिए। पूर्ण नीतिपरायण तथा साहसी बनो – प्राणों के लिए भी कभी न डरो। धार्मिक मत-मतान्तरों को लेकर व्यर्थ में माथापच्ची मत करो। कायर लोग ही पापाचरण करते हैं, वीर पुरुष कभी पापानुष्ठान नहीं करते – यहाँ तक कि कभी वे मन में भी पाप का विचार नहीं लाते।

७६. इन दो चीजों से बचे रहना – अधिकारलालसा और ईर्ष्या। सदा आत्मविश्वास का अभ्यास करना।

७७. हर काम को तीन अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ता है – उपहास, विरोध और फिर स्वीकृति। जो मनुष्य अपने समय से आगे विचार करता है, लोग उसे निश्चय ही गलत समझते हैं। इसलिए विरोध और अत्याचार हम सहर्ष स्वीकार करते हैं; परन्तु हमें दृढ़ और पवित्र होना चाहिए और भगवान् में अपरिमित विश्वास रखना चाहिए, तब ये सब लुप्त हो जाएँगे।

७८. उठो, जागो, स्वयं जगकर औरों को जगाओ। अपने नर-जन्म को सफल करो। ''उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। (''उठो, जागो और तब तक रुको नहीं, जब तक कि लक्ष्य प्राप्त न हो जाय)।''



घटनानुक्रमणिका

ईसवी सन् १८६३	१२ जनवरी, सोमवार, प्रात:काल ६ बजकर ४९ मिनट पर जन्म।
,, ,, १८८१	नवम्बर — श्रीरामकृष्णदेव का प्रथम-दर्शन।
,, ,, १८८४	बी. ए. की परीक्षा और पिता का देहान्त।
,, ,, १८८५	११ दिसम्बर — चिकित्सा के लिए श्रीरामकृष्ण का काशीपुर के उद्यान-भवन में आना।
,, ,, १८८६	१५ अगस्त — रात्रि १ बजकर ६ मिनट पर श्रीरामकृष्णदेव की महासमाधि।
	दिसम्बर — आँटपुर में युवक भक्तों के साथ संघबद्ध होने का संकल्प।
,, ,, १८८७	जनवरी — वराहनगर में संन्यास-ग्रहण।
,, ,, १८८८	परिव्राजक रूप में तीर्थ-भ्रमण।
,, ,, १८९०	परिव्राजक रूप में सम्पूर्ण भारत भ्रमण।
,, ,, १८९३	३१ मई — बम्बई से अमेरिका के लिए प्रस्थान।
	११ सितम्बर — शिकागो धर्ममहासभा में भाषण।
,, ,, १८९५	अगस्त — इंग्लैंड-यात्रा।
,, ,, १८९६	फरवरी — न्यूयार्क में वेदान्त समिति की स्थापना। १५ अप्रैल — पुन: इंग्लैंड-यात्रा। २८ मई — प्रोफेसर मैक्समूलर से भेंट।
,, ,, १८९७	१५ जनवरी — कोलम्बो में पदार्पण। ६ फरवरी — कलकत्ता-अभिनन्दन। १ मई — 'रामकृष्ण मिशन' का गठन।
,, ,, १८९८	३ फरवरी — गंगा-तट पर बेलुड़ ग्राम में मठ के लिए जमीन खरीदना।
	जून — पाश्चात्य शिष्यों के साथ काश्मीर-यात्रा।
	९ दिसम्बर — बेलुड़-मठ की स्थापना।
,, ,, १८९९	२० जून — पश्चिम की द्वितीय यात्रा।
,, ,, १९००	२० जुलाई — पेरिस की यात्रा। ९ दिसम्बर — वापस बेलुड़ मठ पहुँचना। २७ दिसम्बर — मायावती-यात्रा।
,, ,, १९०१	१८ मार्च — पूर्व बंगाल (अब बंगलादेश) और आसाम की यात्रा।
	अक्तूबर — प्रतिमा में दुर्गा-पूजा।
,, ,, १९०२	जनवरी — बोधगया तथा वाराणसी गमन।
	४ जुलाई, शुक्रवार — रात्रि ९ बजकर १० मिनट पर महासमाधि।



श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य

एवं अन्य आध्यात्मिक प्रकाशनों के लिए लिखें :

रामकृष्ण मठ, (प्रकाशन विभाग)
रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर ४४० ०१२

(H-103) Swami Vivekananda :
Sankshipta Jivani Tatha Upadesh : Rs. 10.00